क्रांतियों में हिंसा और आतंक का सवाल

यदि हम याद करें और ध्यान दें तो 'आतंक के राज्य' दो थेः एक जिसने उबलते आवेश में हत्या की, दूसरा जिसने हृदयहीन ठंडे दिमाग से; एक केवल कुछ महीने चला तो दूसरे को हजार साल हो गये हैं, ... हमारी सारी सिहरन छोटे आतंक के लिए, तात्कालिक आतंक की विभीषिका के लिए होती है; जबकि कुल्हाड़ी के एक घात से तुरंत मौत की विभीषिका भूख, ठंड, बेइज्जती, क्रूरता और दिल टूटने की जीवन-पर्यन्त मृत्यु के सामने क्या है? ... ... एक शहर का कब्रिस्तान ही अल्पकालिक आतंक के द्वारा भरे गये ताबूतों को समेटने के लिए पर्याप्त होगा जिस पर सिहरने और विलाप करने के लिए हम सभी को पूरी मेहनत से सिखाया गया है; लेकिन समूचा फ्रांस उन ताबूतों को समेटने के लिए मुश्किल से पर्याप्त होगा जो उस पुराने और असली आतंक से भरे गये थे-वह अकथनीय रूप से कड़वा और भयानक आतंक जिसे उसकी व्यापकता में देखने के लिए या जिस पर यथोचित आंसू बहाने के लिए हममें से किसी को नहीं सिखाया गया।

- मार्क ट्वेन

समूचा फ्रांसीसी आतंक पूंजीपति वर्ग के दुश्मनों-निरंकुशता, सामंतवाद, कूपमंडूकता - से जनसाधारण के तरीके से निपटने के अलावा और कुछ नहीं था।

- कार्ल मार्क्स

केवल एक ही तरीका है जिससे पुराने समाज की हत्यारी मृत्यु यंत्रणा और नये समाज की खूनी प्रसव वेदना को छोटा, सरल और संकेन्द्रित किया जा सकता है और वह तरीका है-क्रांतिकारी आतंक।

-कार्ल मार्क्स

व्यापक पैमाने पर कम्युनिस्ट चेतना पैदा करने और ... ... मनुष्यों के व्यापक पैमाने पर रूपान्तरण दोनों के लिए ... ... एक क्रांति जरूरी है; अस्तु क्रांति केवल इसलिए जरूरी नहीं है कि शासक वर्ग को किसी अन्य तरीके से नहीं उखाड़ फेंका जा सकता बल्कि इसलिए भी जरूरी है कि उखाड़ फेंकने वाला वर्ग केवल क्रांति में ही युगों पुराने कीचड़ से मुक्त हो सकता है और नये समाज की स्थापना करने लायक बन सकता है।

-कार्ल मार्क्स

... ... बल की इतिहास में एक अन्य भूमिका है - एक क्रांतिकारी भूमिका; वह है मार्क्स के शब्दों में, नये समाज को अपने गर्भ में धारण किये पुराने समाज के लिए दाई की भूमिका, यानी यह वह हथियार है जिसकी सहायता से कोई सामाजिक आंदोलन बल पूर्वक अपना रास्ता बनाता है और पुराने, जड़ीभूत राजनीतिक रूपों को ध्वस्त कर देता है।

-फ्रेडरिक एंगेल्स

निश्चय ही कोई क्रांति सर्वाधिक सत्तावादी चीज होती है; यह वह कार्रवाई है जिसके द्वारा आबादी का एक हिस्सा दूसरे पर राइफलों, संगीनों और तोपों, जो भारी सत्तावादी साधन हैं, के जरिये अपनी इच्छा थोपता है। और विजयी पक्ष को अपने शासन को उस आतंक के द्वारा बनाये रखना होता है जो उसके हथियार प्रतिक्रियावादियों में उत्पन्न करते हैं। क्या पेरिस कम्यून एक भी दिन टिक सका होता यदि उसने बुर्जुआ वर्ग के खिलाफ हथियारबंद जनता की सत्ता का इस्तेमाल नहीं किया होता? इसके विपरीत, क्या हमें इस बात के लिए उसे जिम्मेदार नहीं ठहराना चाहिए कि उसने इस सत्ता का बहुत कम इस्तेमाल किया?

-फ्रेडरिक एंगेल्स

I

क्रांति, हिंसा और आतंक पर कुछ आम बातें

जब भी रूसी क्रांति की बात उठती है, बुर्जुआ वर्ग इस क्रांति में हुई हिंसा पर गला फाड़-फाड़कर चिल्लाने लगाता है। इसके द्वारा वह इस क्रांति को कटघरे में खड़ा करने का प्रयास करता है। असल में उसका उद्देश्य आम तौर पर क्रांतियों को कटघरे में खड़ा करना होता है। यह आश्चर्य की बात नहीं है कि 1989 में महान फ्रांसीसी क्रांति की दूसरी शताब्दी जयंती वहां बुर्जुआ वर्ग द्वारा ठंडे ढ़ंग से मनाई गयी। बुर्जुआ आज अपनी ही क्रांतियों को याद नहीं करना चाहता।

हिंसा क्रांतियों का अनिवार्य हिस्सा है। क्रांतियों में हिंसा से केवल वही लोग बचना चाहते हैं जो, राबेस्पियेर के शब्दों में, बिना क्रांति के क्रांति चाहते हैं। लेकिन ठीक इसीलिए कि हिंसा क्रांतियों का अनिवार्य हिस्सा है, दुनिया के तमाम प्रतिक्रियावादी शासक इस तथ्य का इस्तेमाल कर अपनी कालातीत हो गई व्यवस्था के खिलाफ होने वाली क्रांति के खिलाफ माहौल बनाने का प्रयास करते रहते हैं जबकि ठीक उसी समय वे अपनी व्यवस्था की रक्षा में किसी भी तरह की हिंसा से परहेज नहीं कर रहे होते। इस तरह क्रांतियों में हिंसा

और आतंक का सवाल किसी अमूर्त नैतिकता का मामला न होकर व्यवस्था के पक्ष-विपक्ष में चल रहे विचारधारात्मक वर्ग-संघर्ष का हिस्सा हो जाता है।

मानव द्वारा की जाने वाली हिंसा के जीव-वैज्ञानिक, नृजातीय या मनोवैज्ञानिक पहलुओं को किनारे रखकर ऐतिहासिक तौर पर बात करें तो हिंसा मानव समाज का हमेशा से सामान्य तथ्य रही है। यह सुदूर अतीत के कबीलाई समाज में भी थी (संस्कृत का 'संग्राम' शब्द अपने मूल में सम-ग्राम से बना है यानी दो ग्रामों [कबीलों] के साथ आने से जो दोनों को आपस में युद्ध की ओर ले जाता था) और वर्गीय समाजों की तो संरचना में यह निहित है। बिना किसी तरह के राज्य के किसी वर्गीय समाज की कल्पना नहीं की जा सकती और राज्य का सबसे अनिवार्य तत्व है बल प्रयोग या हिंसा। यह किस कदर है यह आधुनिक राष्ट्र-राज्यों या देशों के मामले से समझा जा सकता है। आज यह सामान्य तौर पर मानी हुई बात है कि हर देश या राष्ट्र के पास उसकी सेना होगी जो उसकी रक्षा करेगी। सेना हिंसा का एक अत्यंत संगठित साधन है और इसके अस्तित्व पर न केवल कोई सवाल नहीं उठाया जाता बल्कि देश भक्ति या राष्ट्र भक्ति के नाम पर इस पर गर्व किया जाता है। एक देश की सेना द्वारा दूसरे देश की सेना के खिलाफ हिंसा को केवल हिंसा के लिए नाजायज नहीं ठहराया जाता। यह मानकर चला जाता है कि सेना हिंसा के लिए है और हिंसा करेगी ही। नाजायज दूसरे देश के कार्य को ठहराया जाता है कि वह आक्रमणकारी है, उसने अकारण युद्ध छेड़ा। सेना के मामले में हिंसा इतना ज्यादा मान्यता प्राप्त होती है कि सेना जब यह हिंसा देश के भीतर करती है तो भी शासक वर्ग इसे उचित ठहराने में कामयाब हो जाता है। सवाल हमेशा विद्रोहियों की हिंसा पर होता है, सेना द्वारा हिंसा पर नहीं। विद्रोहियों से ही हमेशा मांग की जाती है कि वे पहले हिंसा छोड़ें।

देशों-राष्ट्रों की सेनाओं के बीच हिंसा इतना आम तथ्य है कि इसे हवा-पानी की तरह मानकर चला जाता है। इसके विपरीत देश के भीतर शासक वर्ग और शासित वर्ग के बीच हिंसा-विद्रोह, क्रांति या गृहयुद्ध-की हिंसा पर हमेशा सवाल उठते रहते हैं। पर मजे की बात यह है कि मानव समाज के इतिहास में यह दूसरी वाली हिंसा ज्यादा आम तथ्य रही है। ठीक इस समय भी यही बात सच है। आज दुनिया में मुश्किल से कोई दो देश आपस में युद्धरत हैं पर दुनिया में तीस-चालीस देश ऐसे हैं जहां की सरकारें भांति-भांति के स्तर के विद्रोहों से जूझ रही हैं।

शासक वर्गों द्वारा एक तरह की हिंसा का महिमामण्डन किया जाता है और दूसरे तरह की हिंसा की भर्त्सना की जाती है। यह शासक वर्ग के शासन के लिए जरूरी है। भारतीय पूंजीपति वर्ग के 'राष्ट्रपिता' जो अंतर्राष्ट्रीय पूंजीपति वर्ग द्वारा भी उछाले जाते हैं, ने बहुत स्पष्ट शब्दों में सेना और पुलिस द्वारा हिंसा को जायज ठहराया था जबकि शोषित-उत्पीड़ित जनता के द्वारा हिंसा की भर्त्सना की थी। शासक वर्ग के द्वारा किये जाने वाले निरंतर वैचारिक प्रचार का ही यह परिणाम होता है कि शासक वर्गों की मुख्य सुरक्षा पंक्ति यानी हथियारबंद सेना की हिंसा न केवल मान्यता प्राप्त कर लेती है बल्कि माहिमामण्डित भी की जाती है।

समय के साथ शासक वर्गों द्वारा की जाने वाली हिंसा की संगठित मशीनरी अधिकाधिक विकसित और विशाल होती गई है। आज तो उसने भयानक रूप ले लिया है। आज उसने धरती पर मानव सभ्यता को सैकड़ों बार नष्ट करने की ताकत हासिल कर ली है। किसी भी क्रांति में होने वाली हिंसा की इससे कोई तुलना नहीं है। (पहले भी प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध में हुई हिंसा की किसी भी क्रांति की हिंसा से तुलना नहीं की जा सकती) इसके बावजूद, शासक वर्ग क्रांतियों में होने वाली हिंसा का हौव्वा खड़ा करता रहता है।

अभी तक मानव इतिहास में होने वाली सारी क्रांतियां रक्तपातपूर्ण रही हैं। कम या ज्यादा मात्रा में हिंसा क्रांतियों का अनिवार्य हिस्सा रही है। यदि 1688 की इंग्लैण्ड की 'शानदार क्रांति' जैसी शांतिपूर्ण क्रांतियों की बात करें तो असल में वे क्रांतियां नहीं थीं बल्कि पहले की क्रांतियों का परिणाम थीं। 1688 उन सबका परिणाम मात्र था जो 1640 से लेकर 1660 तक घटा था।

क्रांतियों के रक्तपातपूर्ण होने का सीधा सा कारण यह है कि कोई भी शासक वर्ग चुपचाप विदा नहीं होता। ऐतिहासिक तौर पर कालातीत हो जाने के बावजूद वह अपने शासन और शोषण को बचाये रखने के लिए, अपनी सम्पत्ति, सत्ता व विशेषाधिकार को बचाये रखने के लिए वह अंतिम हद तक लड़ता है। इससे भिन्न व्यवहार की उम्मीद की भी नहीं जा सकती। कोई शासक वर्ग केवल तभी शांतिपूर्ण ढंग से आत्मसमर्पण कर सकता है जब उसे लगे कि उसके सामने खड़ी शक्तियां अत्यन्त विशाल हैं और वह टिक नहीं सकता। पर अभी तक ऐसा नहीं हुआ है। बल्कि ठीक उलटा रहा है। कालातीत हो चुके शासक वर्ग को उसे चुनौती देने वाली शक्तियां शुरू में अत्यंत कमजोर लगी हैं और यहां तक कि उनके द्वारा पराजित कर दिये जाने के बाद भी उसे अपनी हार से सामंजस्य बैठाना मुश्किल होता रहा है। अभी तक सभी क्रांतियों का इतिहास यह दिखाता है कि पराजित कर दिये जाने के बाद भी पुराने शासक वर्ग के बचे खुचे तत्व चुपचाप नहीं बैठते और वे विदेशों में पलायन कर वहां से नयी सत्ता के खिलाफ षड्यंत्र रचते रहते हैं। केवल पीढ़ियां गुजर जाने पर ही यह षड्यंत्र समाप्त होता है।

इन्हीं वजहों से गृहयुद्ध और प्रतिक्रांति क्रांतियों का अनिवार्य हिस्सा होती है। कोई भी क्रांति बिना गृह-युद्ध के सम्पन्न नहीं होती। पुराने समाज की पुरानी शक्तियां क्रांति के द्वारा न तो एकबारगी पराजित हो जाती हैं और न नष्ट होती हैं। पुरानी शक्तियां अपने को गोलबंद करती हैं और फिर नयी व पुरानी शक्तियों के बीच गृह-युद्ध का एक कम या ज्यादा लम्बा दौर चलता है। क्रांतियों की गतिकी की बात करें तो क्रांति प्रतिक्रांति से टकराकर ही आगे बढ़ती है और चरम तक पहुंचती है। इसीलिए जहां क्रांति है वहां प्रतिक्रांति भी है। क्रांतियों में क्रांति और प्रतिक्रांति को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। और ठीक यही तथ्य कि बिना प्रतिक्रांति के कोई क्रांति नहीं होती, क्रांतियों में हिंसा की अधिकता को स्पष्ट कर देता है। यदि पुराना शासक वर्ग शुरूआती टकराव और पराजय के बाद समर्पण कर दे तो क्रांतियों में हिंसा काफी कम हो जायेगी। पर स्वभावतः ही पुराना शासक वर्ग समर्पण नहीं करता

और क्रांति व प्रतिक्रांति के बीच जंग का, गृहयुद्ध का एक कम या ज्यादा लम्बा दौर चलता है जो शुरूआती सत्ता हस्तांतरण के समय से बहुत-बहुत ज्यादा जिंदगियां निगलता है।

क्रांतियों में गृहयुद्ध और प्रतिक्रांति का यह सिलसिला क्रांति के देश के बाहर के शत्रुओं के साथ संघर्ष से अभिन्न रूप से जुड़ा होता है। क्रांति वाला देश अलग-थलग नहीं होता। वह आस-पास के या यहां तक कि दुनिया भर के देशों से किसी संबंध में जुड़ा होता है। यह मूलतः पुराने शासकों के बीच किसी शक्ति संतुलन से संबद्ध होता है। किसी देश की क्रांति इस संतुलन को अस्थिर कर देती है। एक झटके से क्रांति वाला देश इस समीकरण से बाहर हो जाता है। ऐसे में बाकी देशों के शासक उसकी जगह भरने के लिए या उसे हथियाने के लिए आगे बढ़ते हैं। यह क्रांतिकारी देश और बाकियों के बीच संघर्ष को जन्म देता है।

इससे भी बड़ी बात है कि किसी बड़े देश की क्रांति अपनी नयी सोच के कारण बाकी देशों के पुराने शासकों के लिए खतरा पैदा कर देती है। उनका अपना शासन खतरे में पड़ने लगता है। ऐसे में वे इस क्रांति को रोकने, समेटने या समाप्त करने के लिए आगे बढ़ते हैं। भांति-भांति के घुसपैठ और षड्यंत्र के साथ बाहर से क्रांतिकारी देश पर हमला -सारा कुछ इसके लिए आजमाया जाता है। बाहर से यह घुसपैठ और हमला देश के भीतर पुराने शासकों की प्रतिक्रांति से सम्बद्ध हो जाता है। इस तरह गृह-युद्ध और बाहरी युद्ध आपस में सम्बद्ध हो जाते हैं। क्रांति इन दोनों मोर्चों पर लड़कर और जीतकर ही कामयाब हो पाती है।

इस तरह देखें तो गृह-युद्ध, प्रतिक्रांति और क्रांतिकारी देश पर बाहर से हमला देश के भीतरी और बाहरी दोनों पुराने शासक वर्गों द्वारा पुरानी स्थिति की बहाली की कोशिश का परिणाम होते हैं। इसीलिए इनमें होने वाली हिंसा के लिए मूलतः वे ही जिम्मेदार होते हैं। क्रांति को उसके अपने हाल पर छोड़ देने पर हिंसा की मात्रा अत्यंत सीमित हो जायेगी। क्रांतिकारियों और क्रांतियों को हिंसा के लिए तभी जिम्मेदार ठहराया जा सकता है जब यह कहा जाये कि उन्होंने यह सारी खुराफात शुरू ही क्यों की? पर यह बात केवल वही कह सकते हैं जो समाज के किसी भी आमूल-चूल परिवर्तन के पूर्ण विरोधी होते हैं यानी चल रही व्यवस्था के समर्थक। शासक वर्गों और उनके चाकरों की इन बातों को स्वीकार करने का मतलब है उनकी व्यवस्था को स्वीकार कर लेना और किसी भी आमूल-चूल परिवर्तन से तौबा कर लेना। शासक वर्गों के लिए इससे अच्छी बात भला क्या होगी?

क्रांतियों में हिंसा, गृह-युद्ध और प्रतिक्रांति का मामला इसलिए और जटिल हो जाता है कि पुराना शासक वर्ग शोषित-उत्पीड़ित जनता के एक हिस्से को अपने पीछे गोलबंद करने में कामयाब हो जाता है। इसमें वह शोषित-उत्पीड़ित जनता में गहरी पैठी भावनाओं, खासकर धार्मिक भावनाओं का इस्तेमाल करता है। पुराना शासन पुरानी धार्मिक मान्यताओं, रूढ़ियों से सम्बद्ध होता है। पुराने शासक को धर्म से वैधानिकता भी मिली होती है। ऐसे में क्रांति पुराने शासकों के साथ पुराने धर्म से भी टकराती है। इस टकराव में ऐसा हो सकता है कि अपेक्षाकृत पिछड़े इलाकों की शोषित-उत्पीड़ित जनता आसानी से पुराने धर्म से मुक्त न हो पाने के कारण क्रांति से विमुख हो जाये और अंततः प्रतिक्रांतिकारियों के पीछे लामबंद हो जाये। इस स्थिति में गृह-युद्ध और प्रतिक्रांति का दायरा बढ़ जाता है और इसलिए हिंसा का दायरा भी।

बात केवल धर्म तक सीमित नहीं है। किसी भी क्रांति में शोषित-उत्पीड़ित जनता के सभी हिस्से एक ही जमीन पर खड़े नहीं होते। अक्सर ही शहर और देहात में फर्क होता है। इसी तरह एक क्षेत्र और दूसरे क्षेत्र के बीच भी फर्क हो सकता है। इन फर्क की वजह से ऐसा हो सकता है कि क्रांति के विकास क्रम में कुछ हिस्से पीछे छूट जायें और क्रांति से असंतुष्ट हो जायें। यह असंतुष्टि क्रांति के प्रति वैमनस्य तक भी जा सकती है और तब उसके प्रतिक्रांति से सम्बद्ध हो जाने का खतरा पैदा हो जाता है। प्रतिक्रांतिकारी ऐसे किसी भी मौके का इस्तेमाल करने के इंतजार में होते हैं। जैसे पहले क्रांतिकारियों ने शासक वर्ग के खिलाफ किसी भी असंतोष का इस्तेमाल करने की कोशिश की होती है, उसी तरह अब प्रतिक्रांतिकारी कोशिश कर रहे होते हैं।

क्रांतिकारियों की पांतों में ही ऐसे लोग होते हैं जो क्रांति के विकास क्रम के साथ स्वयं को निराश, ठगा हुआ पाते हैं या जिन्हें लगता है कि क्रांति गलत दिशा में जा रही है अथवा जरूरत से ज्यादा आगे जा चुकी है। ये सारे असंतुष्ट तत्व, यदि वे क्रांति से विरत नहीं हो जाते, क्रांति के खिलाफ षड्यंत्र में लिप्त हो जाते हैं। वे अपने उद्देश्य को आगे बढ़ाने के लिए जन-असंतुष्टि का इस्तेमाल करते हैं और यहां से उनके प्रतिक्रांति से सम्बद्ध हो जाने का रास्ता खुल जाता है। चूंकि क्रांति काल में, गृहयुद्ध के समय बीच का कोई रास्ता नहीं होता, इसीलिए यह प्रक्रिया तेजी से घटित होती है। कल के क्रांतिकारी तेजी से प्रतिक्रांति की पांतों में शामिल हो जाते हैं। इनमें वे क्रांतिकारी भी आते हैं जो क्रांति को पीछे खींचना चाहते हैं और वे भी जिन्हें लगता है कि क्रांति अभी पर्याप्त मात्रा में आगे नहीं गई है। इस तरह क्रांतिकारियों की पातों के बीच अंदरूनी संघर्ष तथा पहले के क्रांतिकारियों की प्रतिक्रांति से सम्बद्धता भी क्रांति की गति का सामान्य हिस्सा होती है। यह क्रांतिकारी हिंसा में एक और आयाम जोड़ती है। यदि क्रांति प्रतिक्रांति से संघर्ष करते हुए विकसित होती है तो यह साथ ही अपने भीतर संघर्ष से भी विकसित होती है। दोनों संघर्ष एक-दूसरे से इस कदर गुंथे होते हैं कि कई बार दोनों के बीच फर्क करना मुश्किल हो जाता है। प्रतिक्रांति से क्रांति का संघर्ष अपने भीतर संघर्ष के साथ-साथ चलता है।

क्रांति में क्रांतिकारियों की यह स्थिति असल में क्रांति में वर्गों की स्थिति का कमोबेश प्रतिबिंब होती है। कोई भी असल क्रांति एक ओर शासक वर्ग के थोड़े से हिस्से को और दूसरी और बाकी वर्गों को गोलबंद करती हैं। यहां तक कि शासक वर्ग में भी फूट पड़ जाती है और उसका एक हिस्सा क्रांति के साथ आ जाता है। प्रमुख क्रांतिकारी वर्ग बाकी वर्गों को अपने पीछे गोलबंद करता है और उसके अपने वर्गीय हित बाकी सारे वर्गों के हित हो जाते हैं क्योंकि ऐतिहासिक तौर पर वास्तव में ऐसा ही होता है। पर प्रमुख क्रांतिकारी वर्ग के साथ आने वाले अन्य वर्गों की अपनी विशिष्ट स्थिति भी होती है। उन पर शासक वर्ग की छाया भी होती है क्योंकि अभी हाल तक ये वर्ग उसके प्रभुत्व में चल रहे होते हैं। ऐसे में जब क्रांतिकारी संघर्ष आगे बढ़ता है तो क्रांति की पातों के कई वर्गों

की स्थिति ढुलमुल होने लगती है। शासक वर्ग के खिलाफ संयुक्त मोर्चे में परिवर्तन होने लगता है। इसकी संभावना पैदा हो जाती है कि इनमें से कुछ टूटकर प्रतिक्रांति की पातों में चले जायें।

जहां तक प्रतिक्रांति की पातों का सवाल है, वहां भी अंदरूनी संघर्ष चलता है। जब क्रांति शुरू होती है तो शासक वर्गों का एक हिस्सा क्रांति के साथ आता है। शासक वर्गों की पातों में इस विघटन के बिना शुरूआती दौर में क्रांति की सफलता मुश्किल है। पर जब क्रांति आगे बढ़ती है तो क्रांति के साथ आये इन पुराने शासक वर्गीय लोगों के लिए क्रांति भारी पड़ने लगती है। वे क्रांति से भयभीत हो जाते हैं और भागकर प्रतिक्रांति की पातों में पहुंच जाते हैं। पर जब क्रांति अंततः प्रतिक्रांति को कुचलने में कामयाब हो जाती है तो इनका एक हिस्सा फिर अपनी नियति को स्वीकार कर विजयी क्रांति से सामन्जस्य बिठाने की कोशिश करने लगता है। प्रतिक्रांति की पातों की यह गति भी क्रांतिकारी हिंसा में अपना योगदान करती है।

अभी तक बात क्रांतियों में हिंसा की होती रही है। हिंसा के साथ क्रांतिकारी आतंक भी क्रांतियों का अनिवार्य हिस्सा है। यहां यह कहना होगा कि प्रतिक्रांतिकारी भी अपना आतंक कायम करने की कोशिश करते हैं और क्रांतिकारी आतंक अक्सर इसका प्रत्युत्तर होता है।

क्रांतिकारी आतंक का सीधा लक्ष्य होता है नयी क्रांतिकारी सत्ता के प्रभुत्व को स्थापित करना। पुरानी सत्ता को उखाड़ फेंक कर जो नयी क्रांतिकारी सत्ता कायम होती है उसे एक सामान्य सत्ता की वैधानिकता हासिल नहीं होती। दूसरी ओर पुराने सत्ताधारी उसे उखाड़ फेंकने की हर कोशिश में लगे रहते हैं। ऐसे में नयी सत्ता बल के निरंकुश प्रयोग से ही अपनी रक्षा कर सकती है और व्यापक आबादी में यह विश्वास जगा सकती है कि वह टिकेगी। इससे ढुलमुल तत्व इसकी ओर खिंच आते हैं और प्रतिक्रांति का संभावित आधार और कमजोर हो जाता है।

कोई भी क्रांतिकारी सत्ता सामान्य वैधानिक तौर पर चलने वाली सत्ता नहीं होती। वह पुरानी वैधानिक सत्ता को ध्वस्त कर अस्तित्व में आई होती है। एक लम्बे समय तक वह अपनी वैधानिकता के लिए संघर्ष कर रही होती है। यह प्रतिक्रांति के पूरी तरह कुचल दिये जाने के बाद ही हासिल हो पाती है। केवल तभी संभव होता है कि नयी सत्ता नये संविधान और नियम-कानून से चल सके। 'कानून का शासन' केवल तभी संभव हो पाता है। इसके पहले 'कानून का शासन' नहीं हो सकता। इसके पहले बंदूक ही कानून होती है। क्रांतिकारी सत्ता किसी संविधान या नियम-कानून से वैधता हासिल नहीं करती। उलटे ये उससे वैधता हासिल करते हैं। क्रांति अपनी वैधता स्वयं से हासिल करती है। और यह संभव हो इसके लिए जरूरी होता है कि प्रतिरोध को बलपूर्वक कुचल दिया जाये। क्रांति की निगाह में क्रांति का विरोध अपने आप में अपराध है। और इस अपराध की सजा तुरंत मिलती है। क्रांतिकारी न्यायाधिकरण इसीलिए किसी लम्बी न्यायायिक प्रक्रिया का पालन नहीं करते। क्रांति की निरंकुश सत्ता ही क्रांतिकारी आतंक का सारतत्व है।

उपरोक्त बातें बुर्जुआ और समाजवादी सभी क्रांतियों पर आम तौर पर लागू होती हैं। लेकिन समाजवादी क्रांतियों की अपनी कुछ विशेषता भी हैं जो उनमें हिंसा और आतंक को विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती है।

जहां बुर्जुआ क्रांति एक वर्गीय समाज (सामंती) को समाप्त कर दूसरे वर्गीय समाज (पूंजीवादी) को स्थापित करती है वहीं समाजवादी क्रांति का उद्देश्य होता है वर्गविहीन समाज की स्थापना। जहां पहले में निजी सम्पत्ति का रूप बदलता है वहीं दूसरे का लक्ष्य होता है निजी सम्पत्ति का खात्मा। इसीलिए पहला सामाजिक रूपान्तरण जहां बिना क्रांति के या आधी-अधूरी क्रांति के द्वारा भी (लम्बे समय में सुधारों के जरिये) सम्पन्न हो सकता है वहीं दूसरा रूपान्तरण बिना क्रांति के सम्पन्न नहीं हो सकता।

क्रांतिकारी प्रक्रिया के दृष्टिकोण से देखें तो जहां बुर्जुआ क्रांतियां सामाजिक रूपान्तरण का एक तरह से समापन करती हैं वहीं समाजवादी क्रांतियां इस रूपान्तरण की शुरूआत करती हैं। बुर्जुआ वर्ग की सत्ता को उखाड़ फेंक कर सर्वहारा की सत्ता की स्थापना निजी सम्पत्ति के उन्मूलन की शुरूआत करता है। यह उन्मूलन एक लम्बी ऐतिहासिक अवधि की प्रक्रिया है जिस दौरान समाज का क्रांतिकारी रूपान्तरण जारी रहता है। इसी वजह से सर्वहारा की क्रांतिकारी सत्ता बहुत विशिष्ट स्वरूप ग्रहण कर लेती है। प्रतिक्रांति के खिलाफ विजयी हो जाने के बाद एक ओर वह संविधान-कानून से चलने वाली वैधानिक सत्ता होती है तो दूसरी ओर जारी क्रांतिकारी रूपान्तरण का मुख्य उत्तोलक होने के कारण वह किसी हद तक निरंकुश भी होती है। इसी को सर्वहारा की तानाशाही कहते हैं।

चूंकि समाज के क्रांतिकारी रूपान्तरण की प्रक्रिया जारी रहती हैं और इसीलिए क्रांति के समय की कुछ विशेषताएं भी जारी रहती हैं। क्रांतिकारी रूपान्तरण का पुराने शासकों के अवशेषों और पिछड़े तत्वों द्वारा विरोध होता है और यह हिंसक स्थिति तक जा पहुंचता है। इसकी छाया क्रांति के नेतृत्व की पातों पर भी पड़ती है। इतना ही नहीं। नये सामाजिक संबंधों के तहत भी निजी सम्पत्ति के वाहक पैदा होते रहते हैं जो समाज के आगे के विकास को अवरुद्ध कर उसे पीछे ले जाना चाहते हैं। यह भी हिंसक संघर्ष की अवस्थितियों तक ले जाता है। यह तब तक चलता रहेगा जब तक समाज अंततः कम्युनिज्म में प्रवेश नहीं कर जाता।

इसीलिए समाजवादी समाजों को बुर्जुआ समाज के मापदंडों से देखना हमेशा समस्या पैदा करता है। यह समाजवादी क्रांति और समाजवादी रूपान्तरण की विकृत तस्वीर प्रस्तुत करता है। यह तस्वीर तभी ठीक हो सकती है जब यह हमेशा याद रखा जाये कि समाजवादी समाज हमेशा क्रांतिकारी रूपान्तरण की अवस्था में होता है जिसकी शुरूआत सर्वहारा द्वारा सत्ता पर कब्जे से होती है और जिसका अंत सामूहिक सम्पत्ति वाले वर्ग-विहीन कम्युनिस्ट समाज में होता है।

II

बुर्जुआ क्रांतियों में हिंसा

सोलहवीं, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में चार देशों में बुर्जुआ क्रांतियां सम्पन्न हुईं। ये देश अपने समाज के प्रमुख बुर्जुआ समाज वाले देश थे हालांकि क्रांति के समय इन समाजों का बुर्जुआ विकास क्रमशः ज्यादा उन्नत होता गया था। ये देश थे : नीदरलैण्ड, इंग्लैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका और फ्रांस। नीदरलैण्ड की क्रांति, जिसे डच क्रांति भी कहा जाता है, 1566 से 1588 के बीच सम्पन्न हुई हालांकि क्रांति की प्रक्रिया को 1609 तक भी माना जा सकता है। इग्लैण्ड की क्रांति की प्रक्रिया 1640 से 1660 के बीच सम्पन्न हुई, हालांकि इंग्लैण्ड का पूंजीपति वर्ग आज इसके बदले 1688 के सत्ता परिवर्तन को 'शानदार क्रांति' के नाम पर ज्यादा याद करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका की क्रांति 1775 से 1783 के युद्ध के जरिये परवान चढ़ी। जहां तक फ्रांसीसी क्रांति की बात है, यह 1789 से 1795 के बीच मुख्यतः घटित हुई पर इसके बाद के घटनाक्रम 1799 तक, यहां तक कि 1815 तक जाते हैं।

जैसा कि हम अभी देखेंगे इन सभी क्रांतियों में हिंसा की प्रमुख भूमिका थी (पहली और तीसरी तो वस्तुतः बाहरी शासन के खिलाफ स्वतंत्रता संग्राम ही थीं)। आज भारी नरसंहारक हथियारों से लैस बुर्जुआ वर्ग अपनी इन क्रांतियों की हिंसा को नहीं देखना चाहता। इस प्रक्रिया में वह अक्सर इन क्रांतियों को त्यागने की स्थिति तक चला जाता है। आज इंग्लैण्ड या फ्रांस की क्रांतियों को लेकर बुर्जुआ वर्ग में कोई उत्साह नहीं है। ये केवल इतिहासकारों के अध्ययन की चीज बन कर रह गई हैं। वैसे कहना होगा कि उन्नीसवीं सदी से ही यह स्थिति बनने लगी थी जब बुर्जुआ वर्ग सत्तानशीन होकर पहले यथास्थितिवादी और फिर प्रतिक्रियावादी हो गया।

a. डच क्रांति

1566 से लेकर 1588 तक डच क्रांति उस क्षेत्र में हुई थी जिसे आज नीदरलैण्ड और बेल्जियम के नाम से जाना जाता है। तब यह क्षेत्र सत्रह छोटे-छोटे प्रदेशों का समूह था जिस पर स्पेन के राजा का शासन था। क्रांति की सफलता पर उत्तरी सात प्रदेशों ने मिलकर एक गणतंत्र कायम किया जिसे नीदरलैण्ड के नाम से जाना गया जबकि बाकी प्रदेशों पर स्पेन के राजा का शासन बना रहा।

सोलहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में डच प्रदेशों में पूंजीवाद का काफी विकास हुआ था। बहुत सारे शहर पैदा हो गये थे और आबादी का एक तिहाई से ज्यादा हिस्सा शहरों में रहने लगा था। अपनी खास भौगोलिक स्थिति के कारण यह क्षेत्र व्यापार में अग्रणी था जो प्रमुखतः नदियों और समुद्र के जरिये होता था।

पूंजीवादी विकास के साथ अन्य सामाजिक परिवर्तन समय की मांग बन गये थे। पहले जर्मनी से लूथरवाद इस इलाके में फैलना शुरू हुआ पर शीघ्र ही काल्विनवाद प्रमुखता ग्रहण करने लगा। जैसा कि उस समय होता था, सामंतवाद के खिलाफ सुधार का संघर्ष धार्मिक रूप ग्रहण कर लेता था। डच क्षेत्रों में इसने रोमन कैथोलिक चर्च के खिलाफ काल्विनवाद के संघर्ष का रूप धारण कर लिया। यह संघर्ष इसलिए और महत्वपूर्ण हो गया कि डच क्षेत्रों पर शासन करने वाले स्पेन के राजा रोमन कैथोलिक चर्च के अनुयाई थे।

वस्तुतः डच क्रांति की शुरूआत 1566 में मूर्तिभंजन आंदोलन से हुई। काल्विनपंथी निम्न बुर्जुआ ने रोमन कैथोलिक चर्चों पर हमला बोल दिया और उन्हें अपवित्र करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। इस आंदोलन का स्पेन के राजा फिलिप द्वितीय के स्थानीय एजेन्ट अल्वा ने क्रूरता से दमन किया। महत्वपूर्ण बात यह है कि यह आंदोलन आबादी के निचले हिस्सों का आंदोलन था और उसे उन लोगों का समर्थन नहीं मिला जो बाद में डच विद्रोह के नेता बने। ओरेन्ज के विलियम ने कहीं जाकर 1573 में ही काल्विनवाद स्वीकार किया जब उसे लगा कि सबसे दृढ़ विद्रोही काल्विनपंथी हैं और उनके बिना विद्रोह जीता नहीं जा सकता।

मूर्तिभंजन आंदोलन के बाद जब 1568 में स्पेन के शासन से मुक्ति का संघर्ष शुरू हो गया तो फिलिप द्वितीय और उसके एजेन्ट अल्वा ने (बाद में डान जुआन ने) विद्रोह को हर संभव तरीके से कुचलने का प्रयास किया। फिलिप ने अल्वा को आदेश दिया कि वह शहरों को खंडहर बना दे और आबादी का व्यापक पैमाने पर नर संहार करे। इसकी शुरूआत 1568 में ब्रसेल्स के 80 प्रमुख लोगों की हत्या से हुई। 1576 में स्थिति वहां पहुंच गई जहां अंतरीप शहर में स्पेनी सेना ने सात हजार लोगों को मार डाला और एक तिहाई शहर को बरबाद कर दिया।

इस क्रूर दमन के कारण ही 1570 तक लगने लगा था कि डच विद्रोह कुचल दिया गया है। पर 1571 से इसमें नयी जान आ गई और उसके बाद उत्तरी डच प्रदेशों से विद्रोहियों को निकालना मुश्किल हो गया। बाद में लड़ाई दक्षिणी प्रदेशों को लेकर हुई और भारी खून खराबे के बाद फिलिप द्वितीय यहां सफल हो गया। दक्षिणी प्रदेशों पर उसका प्रभुत्व फिर स्थापित हो गया जबकि सात स्वतंत्र उत्तरी प्रदेशों ने डच गणतंत्र-नीदरलैण्ड की स्थापना की। ओरेन्ज के विलियम के पुत्र को इस गणतंत्र का प्रमुख बनाया गया। ओरेन्ज के विलियम की 1584 में ही हत्या हो गई थी।

यहां यह याद रखना होगा कि स्पेन के राजा फिलिप द्वितीय के शासन के खिलाफ इस विद्रोह में गृहयुद्ध का एक तत्व भी निहित था। समाज के ऊपरी हलकों में ऐसे बहुत सारे लोग थे जो स्पेनी शासन के पक्ष में थे। रोमन कैथोलिक चर्च के साथ उनका

जुड़ाव भी इसमें एक प्रमुख तत्व था। इसीलिए अक्सर ऐसा हुआ कि किसी शहर में विद्रोहियों की विजय के बाद ऐसे सारे लोग विद्रोहियों के कोपभाजन बने। अपनी बारी में उन्होंने भी विद्रोहियों की पराजय के बाद उनके दमन में योगदान किया।

ऐतिहासिक तौर पर चीजों को सही परिप्रेक्ष्य में देखने के लिए यह याद रखना होगा कि 1588 में नीदरलैण्ड की कुल आबादी महज पन्द्रह लाख थी और दस हजार की आबादी वाले शहर तब बड़े शहर माने जाते थे।

b. इंग्लैण्ड की क्रांति

जहां डच क्रांति मूलतः विदेशी शासन के खिलाफ विद्रोह थी वहीं इंग्लैण्ड की क्रांति मूलतः आंतरिक क्रांति थी। 1640 में शुरू हुई इस क्रांति ने कुछ सालों के लिए वहां गणतंत्र कायम किया। बाद में वहां संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना हुई।

क्रांति के समय इंग्लैण्ड की कुल आबादी करीब पचास लाख थी। स्कॉटलैण्ड की आबादी तब करीब बीस लाख थी। आयरलैण्ड वगैरह को मिलाकर कुल आबादी करीब एक करोड़ बैठती थी। समूचे क्रांतिकारी काल में वहां करीब दो लाख लोग मारे गये जिसमें क्रांति के समय ही आयरलैण्ड के विद्रोह के दमन में मारे गये लोग भी शामिल हैं।

इंग्लैण्ड की क्रांति की शुरूआत राजा चार्ल्स प्रथम और संसद के बीच संघर्ष से हुई थी। संघर्ष के ऊपरी मुद्दे राजा की स्वेच्छाचारिता, करों का बोझ बढ़ाना तथा प्रोटेस्टेंट धर्म के मामले में उसका ढीला रुख थे। लेकिन असल कारण नये उभरते पूंजीपति वर्ग (जिसमें अभिजातों से भारी मात्रा में तत्व शामिल हो रहे थे) और पुरानी अभिजात प्रणाली के बीच टकराव था जिसकी अंतिम परिणति इस प्रणाली में व्यापक परिवर्तन में हुई क्योंकि 1660 में पुनर्स्थापित चार्ल्स द्वितीय का राजतंत्र पुरानी स्थिति को बहाल नहीं कर सका और 1688 की तथाकथित 'शानदार क्रांति' का तो मतलब ही था कि संवैधानिक राजतंत्र के तहत पूंजीपति वर्ग के सर्वांगीण उत्थान की अवस्थाएं सुनिश्चित हो गई थीं।

संसद और राजा के बीच संघर्ष 1642 में गृहयुद्ध में रूपान्तरित हो गया जब संसद के बहुमत ने निरंकुश राजा को काबू में लाने के लिए उसके खिलाफ जंग का ऐलान कर दिया। ओलिवर क्रॉमवेल नामक कुलीन को विद्रोही सेना का नायक बनाया गया। इस विद्रोही सेना और चार्ल्स प्रथम की सेना के बीच 1647 तक जंग चलती रही। कई बार विद्रोही सेनाओं की हालत पतली हुई। अंत में स्कॉटलैण्ड की सेना के सहयोग से ही विद्रोही सेनायें विजयी हो सकीं। स्कॉटलैण्ड के अभिजात शासक के तब चार्ल्स प्रथम से अपने अंतर्विरोध थे। जैसा कि सुविख्यात है, विद्रोह की विजय के बाद चार्ल्स प्रथम को 30 जनवरी 1649 को सिर काटकर मृत्युदंड दे दिया गया। इंग्लैण्ड को गणतंत्र घोषित कर दिया गया और क्रॉमवेल को इस गणतंत्र का संरक्षक। क्रॉमवेल आधी अधूरी संसद के साथ 1658 में अपनी मृत्यु तक शासन करता रहा। उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्र को संरक्षक बनाया गया पर वह अक्षम साबित हुआ और इंग्लैण्ड के शासक वर्गीय लोगों ने चार्ल्स प्रथम के पुत्र चार्ल्स द्वितीय को बुलाकर उसे राजा घोषित कर दिया हालांकि अब वह पैदाइशी, दैवी अधिकार से, राजा नहीं था बल्कि उसे राजा बनाया गया था। इंग्लैण्ड में गणतंत्र के क्षणिक दौर के बाद राजतंत्र की पुनर्स्थापना हुई पर अब यह भिन्न स्तर का राजतंत्र था। इसके पीछे अब नये पूंजीपति वर्ग का शासन सुरक्षित था।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, इंग्लैण्ड की क्रांति मूलतः विद्रोही सेनाओं और राजा की सेना के बीच गृहयुद्ध थी। पर जहां राजा की सेना भाड़े के सैनिकों से बनी हुई थी, वहीं विद्रोही सेना में विद्रोही आम लोग थे। यही इस विद्रोही सेना की ताकत थी।

इंग्लैण्ड में उस समय प्रोटेस्टैन्ट धर्म के भीतर भांति-भांति के संप्रदाय सक्रिय थे। इनमें प्यूरिटन, एनाबैप्टिस्ट, प्रेबिस्टेरियन इत्यादि थे। इन संप्रदायों की आम जनता में पैठ ज्यादा थी। चार्ल्स प्रथम के शासन में इन संप्रदायों का दमन किया गया था। आम जनों के विद्रोह में यह धार्मिक पहलू भी विद्यमान था जो मूलतः इस बात को अभिव्यक्त करता था कि आम जनता अभिजातों के प्रभुत्व वाले प्रोटेस्टैन्ट धर्म से भी असंतुष्ट महसूस करती थी। इसीलिए वह इसके भीतर भांति-भांति के संप्रदायों की शरण लेती थी।

आम जनों (मूलतः निम्न बुर्जुआ) की भांति-भांति की असंतुष्टि ने ही विद्रोही सेना में 'लेवेलर' आंदोलन को जन्म दिया। यह नाम इसे विरोधियों द्वारा दिया गया था जो कहते थे कि 'लेवेलर' का लक्ष्य सबको बराबर करना था। असल में लेवेलर निम्न बुर्जुआ लोग थे जो निजी सम्पत्ति में विश्वास करते थे। पर वे उस समय विद्यमान बड़े पैमाने की असमानता को कम करना चाहते थे। राजनीतिक तौर पर वे व्यापक जनतंत्र के समर्थक थे। उनकी मांग थी कि कंगालों, भिखारियों और मजदूरों को छोड़कर सबको मत का अधिकार दिया जाये। मजदूरों की संख्या तब बहुत कम थी और लेवेलर का मानना था कि वे अपने मालिकों के हिसाब से मतदान करेंगे।

लेवेलर का इतना प्रभाव बढ़ा कि क्रॉमवेल की समूची विद्रोही सेना लेवेलर हो गई। यह क्रॉमवेल सहित अन्य शासक वर्गीय लोगों के लिए चिंता की बात थी क्योंकि क्रांति का इस हद तक आगे बढ़ना उनके प्रभुत्व के लिए खतरनाक था। इसलिए क्रॉमवेल ने इस आंदोलन को कुचलने का निर्णय लिया। जब तक चार्ल्स प्रथम के खिलाफ युद्ध निर्णायक तौर पर जीता नहीं गया तब तक लेवेलर आंदोलन को बर्दाश्त किया गया और उससे समझौता करने का दिखावा भी किया गया। पर विजय हासिल होने के बाद उस पर हमला बोल दिया गया। जवाब में लेवेलर ने भी सेना में विद्रोह कर दिया। पर विद्रोही कूटनीति में पराजित होकर कुचल दिये गये। उनके कुछ नेताओं को मृत्युदंड दे दिया गया और विद्रोही सैनिक टुकड़ियों को भंग कर दिया गया। लेवेलर आंदोलन कुचल दिये जाने के बाद क्रांति पर पूंजीपति वर्ग और उसके सहयोगी अभिजातों का वर्चस्व कायम हो गया जिनका नेता ऑलिवर क्रामवेल था।

क्रांति के दौरान आयरलैण्ड के विद्रोह का क्रूरता से दमन इसकी एक प्रमुख घटना थी और आयरलैण्ड के लोग इसी के लिए इंग्लैण्ड की क्रांति को याद करते हैं। आयरलैण्ड उसके पहले सदियों से इग्लैण्ड के आधिपत्य में था। इग्लैण्ड में प्रोटेस्टैन्ट धर्म के वर्चस्व के बाद रोमन कैथोलिक आयरलैण्ड के दमन का यह भी एक तत्व हो गया। जैसा कि होता है, गृह-युद्ध की अस्थिरता में आयरलैण्ड के लोगों ने विद्रोह कर दिया। इग्लैण्ड के नये शासक वर्ग को भी यह स्वीकार नहीं था। इस विद्रोह का दमन करने के लिए क्रामवेल ने अपनी सेनाएं भेजीं और उन्होंने 'तबाह कर दो' की नीति के तहत पूरी क्रूरता के साथ इस विद्रोह का दमन किया। क्रांतिकारी इग्लैण्ड का यह ऐसा कारनामा था जिसने क्रांति के नाम पर बड़ा धब्बा लगाया।

उपरोक्त संक्षिप्त वर्णन से स्पष्ट है कि इंग्लैण्ड की क्रांति में विद्रोह, गृह-युद्ध, धार्मिक संघर्ष व क्रांतिकारियों के बीच संघर्ष के सारे तत्व विद्यमान थे। इसमें आदि से अंत तक हिंसा प्रमुख रूप से विद्यमान थी। इसमें साथ ही एक उत्पीड़ित राष्ट्रीयता के विद्रोह का क्रूर दमन भी शामिल था।

c. अमरीकी क्रांति

क्रांति के समय संयुक्त राज्य अमेरिका (जो क्रांति के बाद अस्तित्व में आया) उत्तरी अमेरिकी महाद्वीप के पूर्वी तट पर बसी हुई तेरह ब्रिटिश कालोनियों या उपनिवेशों का समूह था। तब इनकी कुल आबादी करीब पच्चीस लाख थी जिसमें से पांच लाख अश्वेत गुलाम थे। इन उपनिवेशों की शुरूआत पन्द्रहवीं सदी से हुई थी और हर उपनिवेश के लिए इंग्लैण्ड के राजा की ओर से आज्ञा पत्र (चार्टर) जारी किये गये थे जिनमें इन उपनिवेशों से संबंधित शर्तें थीं। ये शर्तें इन उपनिवेशों के शासन को तथा इंग्लैण्ड के शासन के साथ इनके संबंध को निर्धारित करती थीं। तेरह उपनिवेशों के आज्ञा पत्र अलग-अलग समय जारी किये गये थे और उनकी शर्तें भिन्न-भिन्न थीं।

समय के साथ इंग्लैण्ड और इन उपनिवेशों दोनों की स्थिति बदलती गई। इग्लैण्ड (बाद में ग्रेट ब्रिटेन) क्रमशः ज्यादा पूंजीवादी होता गया और उसमें पूंजीपति वर्ग का प्रभुत्व बढ़ता गया। उसमें शासन भी राजतंत्र से संवैधानिक राजतंत्र हो गया और क्रमशः संसद का प्रभुत्व बढ़ता गया। अमरीकी क्रांति के समय ग्रेट ब्रिटेन में संसद ही प्रधान थी।

दूसरी ओर अमरीकी उपनिवेश भी न केवल ज्यादा बड़े होते चले गये बल्कि उनका भी पूंजीवादी विकास होता गया। जहां उत्तर के उपनिवेशों में उद्योग विकसित होने लगे थे वहीं दक्षिण में बड़े-बड़े बागान। वाशिंगटन और जैफरसन दोनों बड़े बागानों और सैकड़ों गुलामों के मालिक थे।

अमरीकी उपनिवेशों के इस विकास ने उनके भीतर स्वशासन की भावना पैदा की और मजबूत की। इसने तब तात्कालिक और उग्र रूप धारण कर लिया जब फ्रांस वगैरह के साथ सात वर्षीय युद्ध (1756-63) में विजयी होने के बाद इसके खर्चे की भरपाई करने के लिए इंग्लैण्ड ने अमेरिकी उपनिवेशों के भीतर उत्पादों पर कर लगाने की फैसला किया। अभी तक अमरीकी उपनिवेशों के मामले में ब्रिटिश कर केवल आयात-निर्यात पर कर तक सीमित था जो उपनिवेशों और उसके साथ व्यापार की सुरक्षा के नाम पर वसूला जाता था। बाकी साम्राज्यवादी देशों की तरह, इग्लैण्ड का भी अपने उपनिवेशों के व्यापार पर एकाधिकार था हालांकि अमरीकी व्यापारी मजे से तस्करी के जरिये इसका उल्लंघन करते रहते थे। इसीलिए उनके लिए आयात-निर्यात पर कर बड़ी चिन्ता की बात नहीं थी जिससे तस्करी के जरिये निपटा जा सकता था। पर आंतरिक कर की बात और थी। इससे बचना मुश्किल था।

अमेरिकी उपनिवेशों ने नये करों का 'बिना प्रतिनिधित्व के कर नहीं' (नो टैक्सेशन विदाउट रिप्रजन्टेशन) के नारे के तहत विरोध किया। उनका कहना था कि ग्रेट ब्रिटेन की संसद में उनका कोई प्रतिनिधित्व नहीं है इसीलिए उसे उन पर कर लगाने का कोई अधिकार नहीं है। बाद में जब उपनिवेशों को संसद में प्रतिनिधित्व देने की बात उठी तो उपनिवेशों के नेताओं ने यह कहना शुरू किया कि दोनों के बीच इतनी दूरी है कि यह प्रतिनिधित्व संभव नहीं है। असल में वे अपने को प्राप्त बड़े पैमाने की स्वायत्तता को न केवल जारी रखना चाहते थे बल्कि उसमें विस्तार भी करना चाहते थे।

पर ग्रेट ब्रिटेन के पूंजीपति वर्ग को यह स्वीकार नहीं था। हालांकि वह समझौते के लिए तत्पर था और ज्यादातर नये करों को वापस भी ले लिया गया था पर वह इस विशाल महाद्वीप के इतने महत्वपूर्ण उपनिवेशों को अपने हाथ से जाने नहीं दे सकता था। ग्रेट ब्रिटेन और उसके अमरीकी उपनिवेशों के बीच बढ़ता हुआ तनाव विभिन्न चरणों से गुजरते हुए अंततः वहां पहुंच गया जहां उपनिवेशों ने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी और स्वतंत्रता का युद्ध शुरू हो गया जो 1775 से 1783 तक आठ साल तक चला।

अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम विशिष्ट किस्म का था जिसमें युद्धरत सेनाएं लगातार युद्धरत होने के बदले समय-समय पर ही टकराती थीं। ज्यादातर समय वे अपने-अपने कैंपों में होती थीं। आठ साल के युद्ध के दौरान जहां वाशिंगटन के नेतृत्व वाली विद्रोही सेना दस से बीस हजार के बीच होती थी वहीं ब्रिटिश सेना पचास हजार तक। सात साल के युद्ध में कुल करीब सात हजार लोग मारे गये जबकि बीस हजार से ज्यादा लोग घायाल होकर या बीमारियों में मरे। युद्धरत सारे पक्षों की मौतों की संख्या एक लाख से ज्यादा थी।

अमेरिका के स्वतंत्रता संग्राम में नीदरलैण्ड, फ्रांस व स्पेन ने अपने हितों के मद्देनजर अमेरिकी विद्रोहियों की मदद की थी तो जर्मनी ने ग्रेट ब्रिटेन की। मरने वालों में इन देशों के सैनिक भी बड़ी संख्या में शामिल थे।

अमेरीका के पूरे स्वतंत्रता संग्राम के दौरान उपनिवेशों की एक भारी आबादी थी जो आजादी के खिलाफ थी। आकलन किया गया है कि आजादी के पक्ष-विपक्ष में एक तिहाई-एक तिहाई लोग थे जबकि बाकी एक तिहाई तटस्थ थे। कहने की बात नहीं कि आजादी के विरोधी लोगों ने जिन्हें (राजा या ग्रेट ब्रिटेन का) 'निष्ठावान' कहा जाता था, स्वतंत्रता संग्राम के दौरान ब्रिटिश सेनाओं की भरपूर मदद की। इसके परिणाम स्वरूप इन्हें स्वतंत्रता संग्राम सेनानियों के आतंक का सामना करना पड़ा। बदले में इन्होंने भी ब्रिटिश सेनाओं के साथ मिलकर आतंक बरपाया। अंत में जब ब्रिटिश सेनाएं पराजित हो गईं तो 'निष्ठावानों' का एक बड़ा हिस्सा अन्य ब्रिटिश उपनिवेशों यथा कनाडा या जमैका इत्यादि चला गया।

पर अमरीकी क्रांति में हिंसा को यहीं तक देखना मामले को सीमित रूप से देखना होगा। अमरीकी क्रांति ने शुरू में ही 'मानव अधिकारों की घोषणा' की थी और कहा था कि सारे इंसान आजाद और बराबर हैं। पर उसने बराबरी को केवल कुछ सम्पत्तिवान गोरे लोगों तक सीमित कर दिया। जहां तक औरतों या सम्पत्तिहीनों का सवाल था वे बराबरी के अधिकार से वंचित थे। अश्वेत गुलाम तो और भी बुरी स्थिति में थे। वे तो आजाद भी नहीं थे। ध्यान रखने की बात है कि आजादी, बराबरी की ये सारी बातें केवल राजनीतिक अधिकारों के संदर्भ में हैं।

अमरीकी क्रांति एक बुर्जुआ क्रांति थी। यह पहली बुर्जुआ क्रांति थी जिसने खुलेआम इंसानों की स्वतंत्रता और बराबरी की बात की थी। पर उसने केवल बात की थी। उसे व्यवहार में लागू नहीं किया था। सभी लोगों को राजनीतिक बराबरी तो अमरीकी समाज में बीसवी सदी के उत्तरार्द्ध में ही मिल पाई। आजादी के लिए भी उसे एक सदी का इंतजार करना पड़ा। और यह आजादी हासिल हुई एक भीषण गृह-युद्ध से।

एक रूप में देखा जाये तो 1861से 65 का अमरीकी गृहयुद्ध उसकी बुर्जुआ जनवादी क्रांति का ही अगला चरण था जिसमें आबादी का एक हिस्सा, जो गुलाम था, उसे मुक्त कराया गया। गुलामों की यह मुक्ति स्वयं अमरीकी बुर्जुआ समाज के आगे के विकास के लिए जरूरी थी। कपास के बागानों वाले दक्षिणी प्रदेशों की गुलामी व्यवस्था अब अमेरिकी समाज के आगे के विकास में बाधा बनने लगी थी। तात्कालिक तौर पर मसले ने तब उग्र रूप धारण कर लिया जब पश्चिम की ओर विस्तार में गुलामी वाले प्रदेशों ने अपनी हिस्सेदारी की मांग की। वे नये इलाकों में भी गुलामी व्यवस्था का विस्तार करना चाहते थे।

चार साल चले इस भीषण गृह-युद्ध में दोनों पक्षों की ओर से करीब सवा छः लाख लोग मारे गये हालांकि यह संख्या आठ लाख तक भी आंकी जाती है यह देखते हुए कि उस समय अमेरिका की कुल आबादी करीब तीन करोड़ थी, इस गृह-युद्ध की विभीषिका का अंदाज लगाया जा सकता है। जैसा कि हमेशा होता है इस तरह के गृह-युद्ध में पृष्ठ भाग में आबादी को भीषण आतंक का सामना करना पड़ता है। अमेरिका में खास तौर पर अश्वेत आबादी को इसका सामना करना पड़ा था।

संयुक्त राज्य अमेरिका के संबंध में एक चीज और याद रखनी होगी। यह देश एक दूरस्थ इलाके में बसाई गई कालोनी के रूप में अस्तित्व में आया था जिसकी बुनियाद ही पूंजीवादी संबंधों पर पड़ी थी। इस देश का कोई सामंती या अन्य अतीत नहीं था। पर जिस जमीन पर इसकी बुनियाद पड़ी वह खाली नहीं थी। वह कबीलाई समूहों से आबाद थी। कालोनियों के गोरे बाशिंदों ने इन कबीलाई समूहों (जिन्हें रेड इंडियन नाम दिया गया) को उनकी जमीनों से खदेड़ा और उन पर कब्जा कर लिया। इस प्रक्रिया में कबीलाई समूहों का नरसंहार किया गया। यह सैकड़ों सालों तक जारी रहा जब तक नये बाशिंदे पूरे देश में नहीं बस गये। जैसा कि पहले बताया गया है अमरीकी गृह-युद्ध का एक तात्कालिक कारण पश्चिम की ओर विस्तार में गुलामी व्यवस्था के भविष्य से संबंधित था

इस तरह संयुक्त राज्य अमेरिका नामक पूंजीवादी देश का अस्तित्व शुरू से ही स्थानीय कबीलाई आबादी के नरसंहार पर आधारित था। ऐसा जरूरी नहीं था। इन समूहों को एक भिन्न नीति के तहत समाहित भी किया जा सकता था। पर तब के लूट-मार वाले पूंजीवाद से लेकर आज तक के सभ्य पूंजीवाद में ऐसा ही होता रहा है। जहां तक संयुक्त राज्य अमरीका की बात है, उत्तरी अमरीका के ज्यादातर भू-भाग पर कब्जा कर लेने के बाद भी उसका विस्तार नहीं रुका। पहले उसने बाकी अमरीकी देशों को अपने वर्चस्व में समेटा और फिर सारी दुनिया पर वर्चस्व कायम करने चल पड़ा। यह आज भी जारी है। अमरीकी समाज में अंतर्निहित हिंसा के मूल में उसका यह खूनी कब्जाकारी इतिहास है।

d. फ्रांसीसी क्रांति

फ्रांस की महान क्रांति बुर्जुआ जनवादी क्रांतियों में वह पहली क्रांति थी जो अपने शास्त्रीय रूप में सम्पन्न हुई और आने वाले लम्बे समय के लिए माडल बन गई। यहां तक कि रूसी क्रांति के समय भी फ्रांसीसी क्रांति के नायकों-प्रतिनायकों और घटनाओं के संदर्भ में बातें होती रहती थीं। क्रांति के समापन के एक लम्बे समय बाद भी यूरोप में क्रांति के फिर फूट पड़ने का इंतजार किया जाता रहा और हमेशा पेरिस की ओर आशा भरी नजरों से देखा जाता रहा। हिंसा के मामले में भी यह क्रांति शत्रुओं-मित्रों दोनों के लिए प्रतिमान स्थापित करने वाली क्रांति थी।

मजे की बात यह है कि फ्रांसीसी क्रांति की शुरूआत भी करों के बढ़ाने के मसले से हुई। फ्रांसीसी सरकार (राजा लुई पन्द्रहवां और फिर सोलहवां) अभी ग्रेट ब्रिटेन वगैरह के साथ सात वर्षीय युद्ध के कर्जों से उबर भी नहीं पाई थी कि उसने अमरीकी स्वतंत्रता संग्राम में अमरीकियों की सैनिक मदद करके और भी कर्जा चढ़ा लिया था। (स्वतंत्रता संग्राम में उसने अमरीकी उपनिवेशों की मदद ग्रेट

ब्रिटेन को कमजोर करने के लिए की थी। इसीलिए स्पेन ने भी मदद की थी)। 1780 का दशक आते-आते हालात काफी खराब हो गये। जब कर्जों को चुकाने के लिए कर बढ़ाने की बात उठी तो इसका भारी विरोध हुआ। अंत में यह तय हुआ कि करों के मामले को तय करने के लिए स्टेट्स जनरल आहूत किया जाये जिसे 1614 के बाद कभी नहीं बुलाया गया था। इस बीच फ्रांसीसी राजतंत्र अधिकाधिक निरंकुश होता गया था, खास कर लुई चौदहवें के समय से।

फ्रांस के समाज को तब तीन श्रेणियों में बंटा माना जाता था। पहली श्रेणी पादरी समुदाय (रोमन कैथोलिक चर्च) की थी, दूसरी श्रेणी सामंती अभिजातों की थी, तीसरी श्रेणी में पूंजीपति वर्ग, दस्तकार, किसान, मजदूर इत्यादि सारे आते थे। फ्रांस की क्रांति के समय की करीब तीन करोड़ की आबादी में पहली दो श्रेणी के लोग कुछ लाख ही थे। विशाल आबादी तीसरी श्रेणी में थी। पर स्टेट्स-जनरल (निश्चित उद्देश्य के लिए बुलाई जाने वाली एक प्रकार की संसद) में तीनों श्रेणियों के प्रतिनिधियों की संख्या बराबर थी।

1614 के बाद फ्रांस में पूंजीपति वर्ग काफी मजबूत हुआ था और अबे सिये के शब्दों में वह समाज का सब कुछ हो गया था। इसलिए जब नयी स्टेट्स जनरल की बात उठी तो पूंजीपति वर्ग ने अपना प्रतिनिधित्व बढ़ाने की मांग कर दी। अंततः तय हुआ कि तीसरी श्रेणी के प्रतिनिधियों की संख्या दोगुनी यानी अन्य दोनों श्रेणियों की कुल संख्या के बराबर होगी।

प्रतिनिधियों के चुनाव के लिए जटिल प्रक्रिया अपनाई गई। पहले एक निश्चित सम्पत्ति के मालिकों को, 'इलेक्टर्स' को चुना। 'इलेक्टर्स' के लिए भी मतदान करने वालों के लिए भी न्यूनतम सम्पत्ति का प्रावधान था। फिर इन 'इलेक्टर्स' ने स्टेट्स-जनरल के प्रतिनिधियों को चुना। इन प्रतिनिधियों के लिए न्यूनतम सम्पत्ति या योग्यता जरूरी थी। इसका यह परिणाम हुआ कि चुनने व चुने जाने वाले लोग फ्रांस की समूची आबादी का बहुत न्यून हिस्सा थे। तीसरी श्रेणी के प्रतिनिधि समूची तीसरी श्रेणी का नहीं बल्कि केवल पूंजीपति वर्ग का ही प्रतिनिधित्व करते थे। पर तब जिस हद तक फ्रांस की बुर्जुआ जनवादी क्रांति फ्रांस की गैर-अभिजात आबादी के सामान्य जनवादी हितों को अभिव्यक्त करती थी, उस हद तक ये सारी आबादी का भी प्रतिनिधित्व करते थे। तीसरी श्रेणी के प्रतिनिधियों का यह द्वन्द्व बाद में भिन्न-भिन्न रूपों में क्रांति के विकास में प्रकट हुआ।

जब अंततः मई 1789 में स्टेट्स-जनरल की बैठक शुरू हुई तो यह जल्दी ही स्पष्ट हो गया कि राजा लुई सोलहवां बहुत समझौते की मानसिकता में नहीं है और पहली दो श्रेणी के लोग भी उसके साथ सांठ-गांठ में हैं। इस स्थिति में तीसरी श्रेणी के प्रतिनिधियों ने एक तरह से विद्रोह कर स्वयं को राष्ट्रीय सभा घोषित कर दिया। क्रांति शुरू हो गयी।

शुरू में तीसरी श्रेणी की इस राष्ट्रीय सभा (नेशनल असेम्बली) में पहली व दूसरी श्रेणी के केवल थोड़े से ही प्रतिनिधि शामिल हुए पर बाद में लुई सोलहवें ने मामला हाथ से निकलता देख खुद ही उन्हें राष्ट्रीय सभा में शामिल होने की सलाह दी। इस नयी सभा ने फ्रांस के लिए एक नया संविधान भी बनाने का काम अपने हाथ में लिया। यह संविधान सभा (साथ ही राष्ट्रीय सभा) दो साल तक अस्तित्वमान रही और सितंबर 1791 में एक नये संविधान के तहत एक नयी विधान सभा के गठन के साथ इसका समापन हुआ।

फ्रांसीसी क्रांति में हिंसा की शुरूआत 14 जुलाई को बदनाम बास्तील पर जनता के हमले से हुई। किले की रक्षा करने वाले गार्ड को पराजित करने के बाद उसमें कैद लोगों को मुक्त कर दिया गया। गार्ड के कमाण्डरों की हत्या के बाद उनके सिरों को भाले की नोकों पर रख कर घुमाया गया।

जैसे-जैसे इसकी खबर पूरे फ्रांस में पहुंची वैसे-वैसे सब जगह विद्रोह होने लगे। खासकर देहातों में किसानों ने पादरियों और सामंती अभिजातों के खिलाफ विद्रोह कर दिया। इन श्रेणियों में भय पैठ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि अगस्त में राष्ट्रीय सभा में सारे सामंती विशेषाधिकारों को खत्म कर दिया गया। इसी के साथ फ्रांस में सामंतवाद कानूनी तौर पर समाप्त हो गया। सामंत भारी मात्रा में विदेशों में पलायन करने लगे।

समूची फ्रांसीसी क्रांति के दौरान खाने-पीने की चीजों की उपलब्धता और उनके दाम भारी मुद्दा रहे और खासकर राजधानी पेरिस में इसने क्रांति की गति को काफी प्रभावित किया। अक्टूबर 89 की शुरूआत में पेरिस में औरतों ने ब्रेड की मांग करते हुए वेर्साई मार्च किया और वहां राजा को मजबूर किया कि वह पेरिस लौटे। राजा पेरिस के तुलरी महल में एक तरह से क्रांति का बंदी बन गया।

क्रांति आगे बढ़ती गई। रोमन कैथोलिक चर्च को राज्य से अलग कर दिया गया और उसकी सम्पत्ति को राज्य की सम्पत्ति घोषित कर दिया गया। प्रोटेस्टैन्ट और यहूदी धर्म को अनुयायियों को बराबर का अधिकार दे दिया गया। बाद में नागरिक संविधान घोषित करके सभी पादरियों से इसके तहत शपथ लेने को कहा गया।

हालांकि सामंतों की सम्पत्ति पर हमला नहीं किया गया था पर वे अपने सामंती विशेषाधिकार छिन जाने से बेहद नाराज थे। बाद में तो सारे 'टाइटिल' भी समाप्त कर दिये गये थे। उनका विदशों में पलायन जारी था जहां से वे क्रांति के खिलाफ षड्यंत्र कर रहे थे। वे सारे विदेशी शासकों के साथ मोर्चा कायम कर रहे थे जिससे क्रांति को कुचला जा सके।

लुई सोलहवां इस सारे षड्यंत्र में शामिल था। इसी के तहत उसने जून 1791 में फ्रांस छोड़ कर भागने का प्रयास किया पर पकड़ा गया। पेरिस की क्रांतिकारी जनता ने तुरंत राजशाही समाप्त कर लुई सोलहवें को सजा देने की मांग की पर राष्ट्रीय सभा के समझौता परस्त बहुमत ने उल्टे जनता का क्रूरता से दमन किया। खून की नदियां बहाई गयीं। राजा को फिर से स्थापित करने के लिए उसके अपहरण की कहानी गढ़ी गई और उसे व्यक्ति के तौर पर अनुल्लंघनीय घोषित कर दिया गया।

मूलतः पूंजीपति वर्ग के हितों को अभिव्यक्त करने वाली इस संविधान सभा ने संवैधानिक राजतंत्र का एक संविधान तैयार किया और उसके तहत एक नयी विधान सभा का गठन करके स्वयं को भंग घोषित कर दिया। विधान सभा ने 1 अक्टूबर 1791 को

कार्यभार संभाला। रोबेस्पियेर के एक प्रस्ताव पर कि राष्ट्रीय सभा या संविधान सभा का कोई प्रतिनिधि नयी विधान सभा का सदस्य नहीं बनेगा, नयी विधान सभा नये प्रतिनिधियों को लेकर गठित हुई थी।

लेकिन तब तक विदेशी ताकतों ने फ्रांसीसी क्रांति को कुचलने के लिए फ्रांस के खिलाफ युद्ध छेड़ दिया था। हालांकि विधान सभा में नरम दल वालों का बहुमत था पर क्रांति के बाहरी-भीतरी शत्रुओं के दबाव में क्रांति आगे बढ़ी। पहले सारे विदेश पलायन करने वालों को लौटने के लिए कहा गया। (अन्यथा बाद में लौटने पर उन्हें मौत की सजा मिलती) फिर उनकी सम्पत्ति को जब्त करने की सजा सुनाई गई। चर्च की जमीन को बेचने का एलान किया गया। बाद में युद्ध के लिए आम लामबंदी की घोषणा की गई। स्थिति तब और विकट हो गई जब जून 1792 में वेंदी और ब्रिटनी नामक प्रान्तों में क्रांति के खिलाफ विद्रोह हो गया। जहां ब्रिटनी विद्रोह पर आसानी से काबू पा लिया गया वहीं वेंदी प्रतिक्रांतिकारियों का गढ़ बन गया और देश के भीतर सबसे ज्यादा खून खराबा यहीं हुआ। वेंदी में कुल मरने वालों की संख्या डेढ़ से पांच लाख तक आंकी जाती है। इसे सही परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए याद रखना होगा कि प्रसिद्ध या बदनाम 'आतंक का राज्य' में गिलोटिन पर चढ़ाये गये लोगों की कुल संख्या महज 18 हजार थी।

ऐसे विकट हालात में पेरिस की क्रांतिकारी जनता और ज्यादा उग्र होती गई। उसने जैकोबिनों के नेतृत्व में जून में विद्रोह का असफल प्रयास किया। पर अगस्त में यह प्रयास सफल हो गया। राजा के रक्षक स्विस गार्ड का सफाया कर दिया गया और राजा को कैद कर लिया गया। अंततः विधान सभा ने आत्मसमर्पण कर दिया और एक नये संविधान के निर्माण के लिए कन्वेंशन का चुनाव करवाया। कन्वेंशन 21 सितंबर 1792 को बैठी और अगले तीन साल तक क्रांति के सारे संघर्षों का अखाड़ा बनी रही। कन्वेंशन ने अपनी पहली बैठक में ही राजतंत्र की समाप्ति की घोषणा करके गणतंत्र की स्थापना की।

इस बीच सितंबर की शुरूआत में जेलों पर हमला कर जनता ने वहां कैद पादरियों और सामंतों को बड़ी संख्या में मार डाला था। 1200 से ज्यादा राजतंत्रवादी इसमें मारे गये थे।

कन्वेंशन ने राजा लुई सोलहवें पर मुकदमा चला कर उसे मौत की सजा सुनाई और 21 जनवरी 1793 को उसे गिलोटिन पर चढ़ा दिया गया। पर इस मुकदमे ने कन्वेंशन के उग्र (पर्वतदल), गरम (जिरोंदे दल) और बीच बीच (प्लेन या दलदल) में विभाजन को स्पष्ट कर दिया। हालांकि पर्वत दल वाले जैकोबिन अभी बहुत अल्पमत में थे पर वक्त के साथ उनका प्रभाव बढ़ता गया। जून 1793 से लेकर जुलाई 1794 तक के सबसे उग्र काल में वे ही कन्वेंशन पर हावी रहे।

पीछे हटती फ्रांसीसी सेनाओं को 20 सितंबर 1792 को तब बड़ी सफलता मिली जब उन्होंने वामी में शत्रुओं को पराजित किया। लेकिन यह तो बस शुरूआत थी। विदेशी सेनाओं का गठबंधन और भी ताकत से क्रांति को कुचलने को टूट पड़ा। क्रांति को बचाने के लिए आम लामबंदी का एलान किया गया।

युद्ध के मसले पर भी जिरोंदे और पर्वत में भारी मतभेद था। जहां जिरोंदे क्रांति की अंदरूनी समस्याओं से ध्यान भटकाने के लिये युद्ध का बाहर विस्तार करना चाहते थे। वहीं पर्वत युद्ध को केवल फ्रांस और क्रांति की रक्षा तक सीमित रखना चाहते थे। शुरू में कन्वेंशन में बहुमत रखने वाले जिरोंदे को उनकी युद्ध की नीति ही भारी पड़ी जब फ्रांसीसी सेनाओं को हार का सामना करना पड़ा। वे जनता की निगाहों में गिर गये। मई -जून 1793 में पेरिस में उनके खिलाफ जन विद्रोह के बाद जिरोंदे के प्रमुख नेताओं को कन्वेंशन से बहिष्कृत कर दिया गया। बाद में उन्हें गिलोटिन पर चढ़ा दिया गया।

वेंदी प्रान्त में प्रतिक्रांति के चरम उठान और विदेशी हमलों की विषम परिस्थितियों में अप्रैल 1793 में 'सार्वजनिक सुरक्षा समिति' का गठन किया गया जो अगले पन्द्रह महीनों तक सरकार का काम करती रही। इसकी सहायता के लिए 'सार्वजनिक निगरानी समिति' भी थी। पेरिस की क्रांतिकारी जनता ने पेरिस कम्यून का गठन किया था जो इस विद्रोही जनता के केन्द्र की तरह थी तथा जो लगातार कन्वेशन और सार्वजनिक सुरक्षा समिति पर दबाव बनाती रहती थी। असल में क्रांति में हर नया उठान पेरिस की क्रांतिकारी जनता के विद्रोह के द्वारा ही आया था।

सितंबर 1793 में जिरोंदे नेताओं को गिलोटिन पर चढ़ाये जाने के बाद सार्वजनिक सुरक्षा समिति ने घोषित कर दिया कि क्रांति के शत्रुओं के खिलाफ विजय हासिल होने तक सरकार क्रांतिकारी रहेगी और क्रांति के सारे शत्रुओं से सख्ती से निपटा जायेगा। कन्वेंशन ने जिस संविधान को पारित किया था उसे फिलहाल लागू न करने का फैसला किया गया। क्रांतिकारी न्यायाधिकरणों के काम को सरल बनाया गया जिससे वे त्वरित फैसला करें। औपचारिक तौर पर 'आतंक का राज्य' घोषित किया गया और देश भर में सार्वजनिक सुरक्षा समिति के एजेन्ट भेजे गये कि इसे लागू करें। वेंदी की प्रतिक्रांति को किसी भी कीमत पर कुचलना तय किया गया।

सार्वजनिक सुरक्षा समिति के इन कठोर क्रांतिकारी कदमों का परिणाम निकला। वेंदी की प्रतिक्रांति कुचल दी गई हालांकि जान-माल की भारी कीमत पर। विदेशी सेनाओं के ऊपर भी विजय पाई गई। जून 1794 आते-आते स्थिति नियंत्रण में आने लगी थी।

पर इस बीच स्वयं जैकोबिनों या पर्वत दल के बीच भी इन कठोर क्रांतिकारी कदमों को लेकर मतभेद हो गये थे। ये वहां तक बढ़े जहां दांतो समेत कई नेताओं को अप्रैल की शुरूआत में गिलोटिन पर चढ़ा दिया गया। इसके ठीक पहले पेरिस के अति क्रांतिकारी हर्बर्ट और उनके समूह को भी गिलोटिन पर चढ़ा दिया गया था।

सार्वजनिक सुरक्षा समिति के कठोर कदमों की सफलता ने ही उसका भविष्य तय कर दिया। अब मामले को ढीला करने की मांग उठने लगी। साथ ही ज्यादतियों के लिए जिम्मेदार लोगों को सजा देने की भी। अभी तक दम साध कर बैठे मध्यमार्गियों ने अब इसका फायदा उठाया और एक षड्यंत्र के जरिये, जिसमें ज्यादा ज्यादतियों के लिए जिम्मेदार लोग भी शामिल थे, सार्वजनिक सुरक्षा समिति के सबसे क्रांतिकारी लोगों-रोबेस्पियेर, सेन्तजस्त और कुथों-तथा उनके समर्थकों को 27 जुलाई 1794 (क्रांतिकारी कलैण्डर की

नवीं थर्मिडोर) को तख्ता पलट कर सत्ता से हटा दिया गया और अगले दिन गिलोटिन पर चढ़ा दिया गया। फ्रांसीसी क्रांति की थर्मिडोर प्रतिक्रिया का दौर शुरू हो गया।

थर्मिडोर प्रतिक्रिया का दौर अगले साल भर तक तीखे तौर पर चला हालांकि यह अगले चार साल तक जारी रही-नैपोलियन के सत्तानशीन होने तक। 9वीं थर्मिडोर से भौंचक पेरिस की क्रांतिकारी जनता ने बार-बार फिर क्रांति पर अपना वर्चस्व स्थापित करने की कोशिश की पर वह असफल रही। थर्मिडोर शासकों ने जैकोबिनों और पेरिस की क्रांतिकारी जनता का क्रूरता से दमन किया। गिलोटिन समाप्त करने के नारे के साथ आये थर्मिडोर प्रतिक्रियावादियों ने हजारों की संख्या में लोगों को गिलोटिन पर चढ़ाया। यही नहीं, एक बार फिर सिर उठाने लगे अभिजातों ने अपने हत्यारे गैंग बनाये और उन्होंने अपना प्रतिक्रांतिकारी आतंक कायम किया। इन्हें थर्मिडोर प्रतिक्रियावादियों का पूरा समर्थन हासिल था।

थर्मिडोर प्रतिक्रियावादी न तो सामंती अभिजात थे और न ही वे सामंतवाद की वापसी चाहते थे। वे कन्वेंशन के मध्यमार्गी लोग थे जो बड़े पूंजीपति वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे। वे गणतंत्र को बनाये रखना चाहते थे पर चाहते थे कि इस गणतंत्र को स्वीकार करने वाले सामंती अभिजातों और पादरियों से समझौता हो जाये। उन्होंने अपनी शर्तों पर सामंती अभिजातों को वापस लौटने की अनुमति दी। पर वे सामंती विशेषाधिकारों की वापसी के खिलाफ थे। इसी तरह वे पेरिस की आम क्रांतिकारी जनता के भी खिलाफ थे जिसने समय-समय पर विद्रोह के जरिये क्रांति को ऊपर ढकेला था और जिसने जैकोबिनों के नेतृत्व में 1793-94 में करीब साल भर फ्रांस को संचालित किया था। रोबेस्पियेर के नेतृत्व वाला जैकोबिन धड़ा असल में पूंजीपति वर्ग के निचले हिस्से का प्रतिनिधित्व करता था जिसने क्रांति को उसकी पूर्णता तक पहुंचाने के लिए और उसके शत्रुओं से निपटने के लिए क्रांतिकारी आम जनता का नेतृत्व किया था। पेरिस की इस आम क्रांतिकारी जनता में प्रमुखता दस्तकारों की थी।

इस तरह थर्मिडोर प्रतिक्रियावादी वाम और दक्षिण दोनों से संघर्ष करते हुए क्रांति को अपने वर्ग के हित में स्थायित्व प्रदान करने का प्रयास करते रहे। इस बीच उन्हें बाहरी शत्रुओं से भी लड़ाई जारी रखनी पड़ी। थर्मिडोर प्रतिक्रियावादियों ने 1793 में कन्वेंशन द्वारा पारित संविधान (जो कभी लागू नहीं हुआ) को रद्द कर एक नया संविधान बनाया और दो सदनों की विधान सभा तथा पांच सदस्यों का निदेशक मण्डल (डायरेक्टरी) का प्रावधान किया। चुनाव की प्रक्रिया कुछ इस रूप में तय की गई कि थर्मिडोर प्रतिक्रियावादियों का हमेशा बहुमत रहे। पर कन्वेंशन भंग करने के बाद जब 1795 में चुनाव कराये गये तो उसमें बहुमत हासिल करने के लिए उन्हें धांधली करनी पड़ी। अगले दो चुनावों में भी यही हुआ। इन सबके कारण इन थर्मिडोर प्रतिक्रियावादियों का शासन बहुत बदनाम हो गया और नैपोलियन बहुत आसानी से सत्ता हथियाने में कामयाब हो गया। यह याद रखना होगा कि नैपोलियन का तख्तापलट इन्हीं प्रतिक्रियावादियों में से कुछ की मिली भगत से सम्पन्न हुआ और सबने उसे स्वीकार कर लिया। क्रांति का समापन हो गया।

फ्रांसीसी क्रांति की गति की बात करें तो यह 1789 से 1794 तक उठान पर थी और उसके बाद नीचे उतरते हुए 1799 में उसका समापन हो गया, हालांकि निर्णायक संघर्षों का समापन 1795 में ही हो गया था जब जैकोबिन कुचल दिये गये।

क्रांति की शुरूआत 1789 में सामंती अभिजातों और बड़े पूंजीपति वर्ग के बीच समझौते व तालमेल से हुई। वे एक संवैधानिक राजतंत्र चाहते थे जिसमें सामंती अभिजातों को जगह तो मिले पर जो मूलतः पूंजीवादी दिशा में जाये। वे साथ ही राज्य के साथ चर्च के पुराने संबंधों को समाप्त कर रोमन कैथोलिक चर्च को देश के प्रमुख धर्म तक सीमित करना चाहते थे। 1790 तक चीजें इसी दायरे में चली पर इसके बाद क्रांति में गति आ गई। अंततः जब विधान सभा के चुनाव हुए तो उसमें पहले की ऊपरी दोनों श्रेणियों के लोग बहुत कम हो गये। क्रांति अब संवैधानिक राजतंत्र की सीमाओं के पार जाने लगी। लेकिन यहां तक पहुंचने में उसे समय लगा। विधान सभा में प्रभावी जिरोंदे दल वाले शुरू में इसके लिए राजी नहीं थे पर पेरिस की विद्रोही जनता के दबाव में उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया। अब क्रांति सामंती अभिजातों और राजतंत्र से मुक्त हो चुकी थी पर अब भी वह केवल पूंजीपति वर्ग की सीमाओं में कैद थी। इसे आम जनता की ओर ले जाने का काम पेरिस की क्रांतिकारी जनता और उसका नेतृत्व करने वाले जैकोबिनों ने किया। यहां पहुंच कर क्रांति ने हर तरह के पुराने संबंधों को तोड़ दिया। 'आतंक का राज्य' जहां तात्कालिक तौर पर पेरिस की विद्रोही आम जनता का राज्य था वहीं ऐतिहासिक तौर पर वह सारे सामंती अवशेषों के सफाये का काल था। पर चूंकि क्रांति बुर्जुआ जनवादी थी और वह अपनी ऐतिहासिक सीमाओं को पार नहीं कर सकती थी इसलिए उसका अतिक्रमण क्षणिक ही हो सकता था। वह केवल कुछ समय तक ही टिक सकता था और केवल साल भर ही टिक पाया। इसके बाद क्रांति ढलान की ओर गई, जिधर वह ऐतिहासिक तौर पर स्थायित्व ग्रहण कर सकती थी। थर्मीडोर प्रतिक्रिया का यही वास्तविक निहितार्थ था। क्रांति अपने बुर्जुआ दायरे में लौट आई और उसने उसी दायरे में स्थायित्व ग्रहण किया।

फ्रांसीसी क्रांति में हिंसा की बात करें तो यह इसमें अपने सभी रूपों में विद्यमान थीः गृह-युद्ध, प्रतिक्रांति, बाहरी आक्रमण, क्रांतिकारियों के बीच संघर्ष तथा धार्मिक टकराव सभी रूपों में।

फ्रांसीसी क्रांति में गृह-युद्ध और प्रतिक्रांति सबसे कटु रूप में वेंदी प्रान्त में अस्तित्वमान रही हालांकि कुछ समय के लिए ब्रिटनी और लियो जैसे प्रान्त भी इसके शिकार हुए। वेंदी प्रान्त के किसानों में सबसे पहले असंतोष रोमन कैथोलिक चर्च पर क्रांति के हमले और बाहरी सेनाओं से लड़ने के लिए आम लामबंदी को लेकर था। शुरू में असंतोष मात्र था जो छुट-पुट प्रतिरोध से होते हुए पूरे प्रान्त के स्तर पर हथियारबन्द प्रतिरोध तक पहुंच गया। प्रतिक्रांतिकारियों ने तुरंत मौके का फायदा उठाया और वे इस प्रतिरोध के नेतृत्व पर काबिज हो गये। अब इस प्रतिरोधने प्रतिक्रांतिकारी स्वरूप ग्रहण कर लिया। क्रांति और प्रतिक्रांति के बीच कठोर गृहयुद्ध शुरू हो गया। यह गृहयुद्ध काफी लम्बा चला और भारी तबाही के साथ यह समाप्त हो पाया। क्रांति प्रतिक्रांति को कुचलने में सफल रही पर

लाखों लोगों की जान की कीमत पर ही। जहां क्रांतिकारियों की ओर से घोषित तौर पर गृहयुद्ध के दौरान आतंक कायम किया गया वही प्रतिक्रांतिकारियों ने भी अपनी ओर से उतनी ही या उससे ज्यादा निर्ममता का परिचय दिया। बर्बरता पूर्वक मौत की सजा देना और शवों को क्षत-विक्षत करना प्रतिक्रांतिकारियों की ओर से आम बात थी।

देश के भीतर प्रतिक्रांति एक छोटे हिस्से तक सीमित थी। राजधानी पेरिस से बाहर 'आतंक का राज्य' की ज्यादातर मौतें इसी क्षेत्र में हुईं। फ्रांस के बाकी हिस्से इस तरह की हिंसा से मुक्त थे।

पर प्रतिक्रांति ने अपना असली रूप देश के बाहर से हमले का धारण किया। वेंदी की प्रतिक्रांति में विदेशियों ने पूरी मदद की थी पर यह कुछ भी नहीं था। ग्रेट ब्रिटेन सहित यूरोप की सारी ताकतें क्रांति को कुचलने के लिए एक हो गईं क्योंकि क्रांति सबके लिए खतरा पैदा कर रही थी। संवैधानिक राजतंत्र वाले ग्रेट ब्रिटेन के शासक भी खुद को सुरक्षित नहीं महसूस कर रहे थे। यह याद रखना होगा कि क्रांति पर सबसे बड़ा वैचारिक हमला ग्रेट ब्रिटेन के नेता एडमंड बर्क ने 1790 में बोला था, तब जब क्रांति अभी बहुत नीचे के चरण में ही थी। यूरोप के इन शासकों ने क्रांति को कुचलने के लिए एक गठबंधन बनाया हालांकि लुटेरों की एकता होने के चलते यह बहुत पुख्ता नहीं था। तब भी क्रांतिकारी अस्थिरता से गुजरते एक अकेले फ्रांस के लिए यह गठबंधन बहुत था। क्रांति को इसके खिलाफ जीवन-मरण की लड़ाई लड़नी पड़ी। इंसानों सहित अपने सारे संसाधनों को इसमें झोंकना पड़ा। सेना में पूर्ण भरती का चलन इसी समय शुरू हुआ जो नैपोलियन के जमाने तक जारी रहा। अंततः क्रांति अपने ऊपर हमले को पराजित करने में कामयाब रही। यह गौर करने की बात है कि थर्मिडोर प्रतिक्रिया के काल में भी फ्रांस की विदेशियों से यह जंग जारी रही जो अंत में नैपोलियन की यूरोपीय अभियानों में संक्रमित हो गई।

जहां तक क्रांतिकारियों के बीच आपसी संघर्षों की बात है, यह फ्रांसीसी क्रांति का सबसे ज्यादा चर्चित पहलू है। खासकर क्रांति विरोधियों ने इसे खूब प्रचारित किया है। यह हमेशा क्रांति को बदनाम करने के उद्देश्य से किया जाता रहा है। पर क्रांति विरोधी न तो इसे समझ सकते हैं और न स्वीकार कर सकते हैं कि क्रांति का विकास क्रांतिकारियों के बीच आपसी संघर्षों से ही होता है। क्रांति के हर चरण में कुछ लोग क्रांति को आगे ले जाना चाहते हैं तो कुछ उसे पीछे। कुछ यथास्थितिवादी होते हैं। जब सारे सवाल हथियारों से तय हो रहे हैं तो यह लाजिमी है कि क्रांतिकारियों के बीच भी सवाल उसी तरह तय हों। इससे तभी बचा जा सकता है जब कुछ प्रतिद्वन्द्वी चुपचाप पीछे हट जायें या जनता में उनका प्रभाव इतना घट जाये कि वे अप्रासंगिक हो जायें। फ्रांसीसी क्रांति में ऐसा नहीं हुआ और ज्यादातर क्रांतिकारियों का अंत गिलोटिन पर हुआ। हालांकि पूंजीपति वर्ग इस पर चुप्पी साध जाता है, पर थर्मिडोर प्रतिक्रिया के पांच सालों में भी गिलोटिन खूब सक्रिय रही।

धार्मिक मामलों में फ्रांसीसी क्रांति अति पर गई थी। शुरू में केवल रोमन कैथोलिक चर्च को राज्य से अलग कर उसकी सम्पत्ति को जब्त किया गया। फिर सभी पादरियों से कहा गया कि वे फ्रांस के संविधान की शपथ लें और पोप से अपना नाता तोड़ें। ऐसा न करने वालों को बाद में देश निकाला दे दिया गया। अंत में जैकोबिन काल में 'विईसाईकरण' का पूरा अभियान चलाया गया और धर्म में आस्था के बदले तर्क को स्थापित करने का प्रयास किया गया, हालांकि रोबेस्पियेर ने इसका विरोध किया और उसने एक अमूर्त ईश्वर को स्थापित करने का प्रयास किया। रोमन कैथोलिक चर्च पर इस हमले में भारी मात्रा में पादरी और धर्म भिक्षु-भिक्षुणियां शिकार हुए। हजारों की संख्या में मृत्यु को प्राप्त हुए जबकि एक बड़ी मात्रा में पादरियों व अन्य धार्मिक कारकूनों ने देश से पलायन किया। केवल थर्मिडोर प्रतिक्रिया के दौर में ही इसमें कुछ ढील आई।

जैसा कि पहले कहा गया है नैपोलियन के तख्तापलट के साथ क्रांतिकारी काल का समापन हो गया। पर इसका यह मतलब नहीं था स्वयं क्रांति समाप्त हो गई थी और चीजें 1789 के पहले लौट गईं। बात इसके ठीक उल्टी थी। नैपोलियन के शासन ने क्रांति के तत्वों को स्थायित्व प्रदान किया। उसकी कानूनी संहिता बाद में सभी बुर्जुआ समाजों के लिए आदर्श संहिता बन गई। नैपोलियन की विश्व विजय की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाएं फ्रांसीसी बुर्जुआ वर्गों के बाहरी हितों के साथ नत्थी हो गईं। इसीलिए फ्रांस के बाहर नैपोलियन की सेनाओं को क्रांति की सेनाएं माना जाता था। उदार बुर्जुआ दार्शनिक हेगेल ने जेना में नैपोलियन को घोड़े पर सवार देख कर कहा था कि उन्होंने इतिहास को घोड़े पर सवार देखा है। हालांकि नैपोलियन पुराने सामंती अभिजातों से अपनी शर्तों पर सुलह समझौते करता गया और 1804 में सम्राट बनने के बाद उसने स्वयं भी आनुवांशिक अभिजात तंत्र कायम करने का प्रयास किया पर यह सब जमीनी स्तर पर पूंजीवाद को नहीं नकारता था। यह फ्रांसीसी पूंजीवाद का नया राजनीति लिबास था।

नैपोलियन की सेनाएं पूरे पन्द्रह सालों तक युद्धरत रहीं और उन्होंने समूचे यूरोप को रौंद डाला। कम से कम फ्रांस के आस-पास के इलाकों में उन्होंने भारी उथल-पुथल पैदा की। केवल नैपोलियन की अंतिम पराजय और सेंट हेलेना द्वीप में उसे कैद कर दिये जाने के बाद ही यूरोप में शांति छा सकी-पूरे पच्चीस साल बाद। कहा जाता है कि इन पच्चीस सालों की इस सारी उथल-पुथल और युद्ध में कुल करीब चालीस लाख लोग मारे गये थे जिसमें फ्रांस के बीस लाख लोग थे।

III

रूसी क्रांति में हिंसा और आतंक

जैसे ही रूसी क्रांति का जिक्र आता है, उदार से उदार बुर्जुआ भी अपना आपा खो बैठता है और उसे कोसने लगता है। इस कोसने में इस क्रांति में हुई हिंसा सर्वोपरि होती है। खासकर स्तालिन काल का जिक्र आते ही सारी सीमाएं टूट जाती हैं। मजे की बात यह है कि रूसी क्रांति में हिंसा बुर्जुआ क्रांतियों में हुई हिंसा से ज्यादा नहीं थी-यदि आबादी के हिसाब से मौतों की संख्या देखें तो

जब फरवरी 1917 (नये कैलेन्डर के हिसाब से मार्च 1917) में रूस में क्रांति शुरू हुई तो प्रथम विश्व युद्ध के करीब तीन साल गुजर चुके थे। तब तक इस युद्ध में रूस के करीब पैंतीस लाख लोग मारे जा चुके थे। यह विशाल नरसंहार बुर्जुआ के लिए केवल एक वस्तुगत तथ्य होता है जिस पर कोई हाय-तौबा नहीं मचाई जाती। महत्वपूर्ण बात यह है कि क्रांति और इसके बाद होने वाले गृह-युद्ध में मरने वालों की संख्या इसकी तिहाई भी नहीं थी।

विश्व युद्ध से तबाह देश में अंततः मजदूरों और किसानों के सब्र का बांध टूट गया और उन्होंने भ्रष्ट पतित जारशाही को उखाड़ फेंका। क्रांतियों के इतिहास को देखते हुए यह अपेक्षाकृत रक्तहीन क्रांति थी जिसमें केवल कुछ हजार लोग ही मारे गये। (उन्नीसवीं सदी के अंत की जनगणना के अनुसार रूसी साम्राज्य की कुल आबादी करीब साढ़े बारह करोड़ थी जिसमें रूस की आबादी करीब साढ़े छः करोड़ तथा उक्रेन की आबादी करीब ढाई करोड़ थी)

फरवरी क्रांति हो जाने के बाद भी जारी विश्व युद्ध में रूस की भागेदारी बनी रही क्योंकि क्रांति के बाद सत्ता पर काबिज हो गये पूंजीपति वर्ग की साम्राज्यवादी युद्ध में उतनी ही दिलचस्पी थी जितनी जारशाही की। पर रूसी सेना लड़ने की स्थिति में बिलकुल भी नहीं थी और उसे भारी नुकसान उठाना पड़ा। यह नुकसान लाखों में था।

अंततः जारी विश्व युद्ध की तबाही और फरवरी की बुर्जुआ जनवादी क्रांति की मजदूर-किसान जनता की बुनियादी समस्याओं को हल करने में पूर्ण असफलता (जिसे तब 'शांति, रोटी और जमीन' तीन शब्दों मे अभिव्यक्त किया गया था) ने अक्टूबर समाजवादी क्रांति के लिए रास्ता साफ किया। मजदूर-किसान दिनोंदिन इस निश्चय पर पहुंचते गये कि केवल एक नयी क्रांति समाजवादी क्रांति ही उनकी समस्याओं का समाधान कर सकती है और वे इसका नारा देने वाली बोल्शेविक पार्टी के पीछे गोलबंद होते गये। अंत में बोल्शेविक पार्टी के पीछे लामबंद मजदूर वर्ग ने अक्टूबर में सत्ता पर कब्जा कर लिया। उसे किसानों के मझोले और निचले हिस्से का समर्थन हासिल था।

अक्टूबर समाजवादी क्रांति फरवरी क्रांति से भी ज्यादा रक्तहीन थी। इसमें सत्ता पर कब्जे के दौरान हजार से भी कम लोग मरे थे और कुछ समय बाद तक इसमें ज्यादा वृद्धि नहीं हुई। इस तरह देखा जाये तो बुर्जुआ वर्ग के सारे दुष्प्रचार के विपरीत बोल्शेविक जरा भी खून के प्यासे नहीं थे और उन्होंने अपने किसी राजनीतिक विरोधी को मौत के घाट नहीं उतारा-बुर्जुआ सरकार के मंत्रियों को भी नहीं।

पर सत्ता पर बोल्शेविकों के कब्जे के कुछ महीनों बाद स्थिति विकट होने लगी। हालांकि जर्मनी से शांति संधि कर लेने के बाद क्रांतिकारी रूस विश्व युद्ध की जारी तबाही से बाहर आ गया था पर अब उसके सामने भीषण गृह-युद्ध का खतरा पैदा हो गया। बाहरी हस्तक्षेप और सहयोग से यह गृह-युद्ध अगले तीन साल चलता रहा और क्रांतिकारी रूस को तबाह करता रहा। विश्व-युद्ध की तबाही से पहले ही जर्जर रूस में इस गृह-युद्ध ने भयानक कहर बरपा किया जिसने बाद के समाजवादी निर्माण के लिए भारी मुश्किलें पैदा कीं।

प्रथम विश्व युद्ध में रूस के संश्रयकारी साम्राज्यवादी देश ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और संयुक्त राज्य अमेरिका चाहते थे कि रूस लुटेरों के इस युद्ध में बना रहे। इसीलिए जब क्रांतिकारी रूस ने युद्ध से अपने को अलग कर लिया (हालांकि जर्मन साम्राज्यवादी लुटेरों को काफी कीमत अदा कर) तो ये बौखला गये। लुटेरों के युद्ध में उन्हें अपनी स्थिति कमजोर लगने लगी।

पर बात केवल इतने तक सीमित नहीं थी। रूस की सर्वहारा क्रांति स्वयं इन साम्राज्यवादियों के लिए खतरा पैदा करती थी। वह इन देशों के मजदूर वर्ग को प्रेरित करती थी कि वे अपने यहां के साम्राज्यवादी लुटेरों से मुक्ति पायें। यह देखते हुए कि विश्व युद्ध की तबाही इन देशों में भी कम नहीं थी, इन देशों में सर्वहारा क्रांति का प्रत्यक्ष खतरा मौजूद था। (जर्मनी में तो नवंबर 1918 में क्रांति फूट भी पड़ी)

इसीलिए इन देशों के साम्राज्यवादियों के लिए जरूरी था कि वे इस नयी सर्वहारा क्रांति को कुचल दें। इसके पहले कि इस क्रांति की लपटें उनके यहां तक पहुंचें उन्हें बुझा दिया जाये। लूट के लिए आपस में लड़ने वाले साम्राज्यवादियों में इस बात पर कितनी एकता थी उसे इस बात से समझा जा सकता है कि जर्मन साम्राज्यवादी भी इसमें उतने ही सक्रिय थे जितने ब्रिटिश, फ्रांसीसी या अमेरिकी। यह तब जबकि जर्मनी से रूस की औपचारिक शांति संधि हो रखी थी।

साम्राज्ययवादियों ने नयी सर्वहारा क्रांति को कुचलने के लिए जर्जर रूस में अपनी सेनाएं उतार दीं। इसमें उन्होंने रूस के पड़ोसी देशों को भी साथ लिया। पूर्व में जापानी साम्राज्यवादियों सहित एक समय क्रांतिकारी रूस में चौदह देशों की सेनाएं सक्रिय थीं-क्रांति को कुचलने के लिए।

साम्राज्यवादियों और अन्य देशों के क्रांतिकारी रूस में इस सैनिक हस्तक्षेप से देश के भीतर के प्रतिक्रांतिकारियों को बहुत बल मिल गया। जब बोल्शेविकों के नेतृत्व में मजदूर वर्ग ने सत्ता पर कब्जा किया तो उसे उस समय सैनिक प्रतिरोध का न के बराबर सामना करना पड़ा था। ज्यादातर सैनिक या तो क्रांति के साथ थे या तटस्थ। इसीलिए जब केरेन्स्की ने नयी सर्वहारा सत्ता के खिलाफ सेना को गोलबंद करने की कोशिश की तो उसे मुंह की खानी पड़ी। उसे पलायन करना पड़ा।

पर बुर्जुआ वर्ग और बचे-खुचे सामंती तत्व हार मानने को तैयार नहीं थे। खासकर जारशाही के कुछ पुराने अफसर, जिनका कज्जाक इलाके में कुछ असर था, हर कीमत पर पुरानी जारशाही को पुनर्स्थापित करना चाहते थे। लुटा-पिटा बुर्जुआ वर्ग उनके साथ दृढ़ता से खड़ा हो गया, इस उम्मीद में कि एक बार बोल्शेविक सत्ता के पतन के बाद वह अपने लिए रास्ता निकाल लेगा। साम्राज्यवादी हस्तक्षेप और सहयोग से गृह-युद्ध शुरू हो गया।

इस गृह-युद्ध में क्रांतिकारी मजदूर वर्ग और किसान (मुख्यतः गरीब और मझोले किसान) एक ओर खड़े थे, तो दूसरी ओर थे पुरानी जारशाही के समर्थक और बुर्जुआ वर्ग। क्रांति और प्रतिक्रांति की इस जंग में बीच के तत्व कहां खड़े थे, वे जो स्वयं को समाजवादी कहते थे यानी समाजवादी क्रांतिकारी और मेंशेविक?

समाजवादी क्रांतिकारी और मेंशविक दोनों ही फरवरी क्रांति के बाद क्रांति के आगे के विकास के विरोधी थे और क्रांति को बुर्जुआ जनवादी क्रांति तक सीमित करना चाहते थे। इसलिए जब उनके न चाहने के बावजूद क्रांति का आगे विकास होने लगा तो उनकी स्थिति विकट होने लगी और वे अंततः प्रतिक्रांति की पांतों में शामिल हो गये।

अक्टूबर क्रांति की पूर्व सन्ध्या पर समाजवादी क्रांतिकारियों का एक धड़ा उनसे टूट कर अलग हो गया। उसने वामपंथी समाजवादी क्रांतिकारी नाम से एक नयी पार्टी बनाई। यह मूलतः किसानों के पेटी बुर्जुआ हिस्सों का प्रतिनिधित्व करती थी। अक्टूबर क्रांति का इसने हिचकिचाहट से समर्थन किया और कुछ समय बाद वे नयी क्रांतिकारी सरकार में शामिल भी हुए। पर वे अपने पेटी बुर्जुआ चरित्र के कारण जर्मनी के साथ अपनामजनक शांति संधि स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। इस शांति के मुद्दे पर वे क्रांतिकारी सरकार से अलग हो गये। इतना ही नहीं, अपने आतंकवादी अतीत के अनुरूप उन्होंने क्रांतिकारी सरकार के खिलाफ आतंकवादी संघर्ष छेड़ दिया। जर्मन राजदूत के साथ-साथ कई बोल्शेविक नेता इनकी आतंकवादी गतिविधियों का शिकार हुए। पानी तब सिर से ऊपर निकल गया जब उन्होंने स्वयं लेनिन को निशाना बनाया। (कुछ साल बाद इसी के फलस्वरूप लेनिन की मृत्यु हुई) इनसे निपटने के लिए इनके खिलाफ और उनका समर्थन करने वाले बुर्जुआ वर्ग के खिलाफ 'लाल आतंक' छेड़ दिया गया। अब तक वे खुलेआम प्रतिक्रांतिकारियों के साथ सम्बद्ध हो चुके थे। प्रतिक्रांतिकारियों के कब्जों वाले इलाकों में उन्होंने कम्युनिस्टों और उनके समर्थकों के खिलाफ बड़े पैमाने का श्वेत आतंक किया। वे जारशाही अफसरों से जरा भी पीछे नहीं थे।

समाजवादी क्रांतिकरियों का दूसरा दक्षिणपंथी धड़ा शुरू से ही बोल्शेविक सत्ता के खिलाफ था। इसीलिए जब प्रतिक्रांतिकारियों का जोर कुछ बढ़ा तो वे उनके साथ संबद्ध हो गये। वे कई जगह उनके द्वारा गठित सरकारों में भागीदार रहे। हालांकि वे जारशाही जनरलों की तरह खुलेआम जारशाही की पुनर्स्थापना की बात नहीं करते थे, पर बोल्शेविक सत्ता के साथ उनकी लड़ाई उन्हें वहां तक ले जाती थी।

रही मेंशेविकों की बात तो वे शुरू से ही दो हिस्सों मे विभाजित थे। उनका दक्षिणपंथी धड़ा (दक्षिणपंथी समाजवादी क्रांतिकारियों की तरह) बुर्जुआ सरकार में शामिल था। मार्तोव के नेतृत्व वाला छोटा सा धड़ा लक्ष्यहीन ढुलमुलाता रहता था। अक्टूबर क्रांति का इन दोनों धड़ों ने विरोध किया। पर जहां मार्तोव का धड़ा निष्ठावान विपक्ष और प्रतिक्रांति के बीच लुढ़कता रहा वहीं दक्षिणपंथी जल्दी ही प्रतिक्रांति के साथ खड़े हो गये। जार्जिया में तो उन्होंने सरकार बनाकर स्वयं प्रतिक्रांति का नेतृत्व किया।

यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि इन पार्टियों के प्रतिक्रांति के साथ चले जाने के बावजूद लाल आतंक आम तौर पर इनके ऊपर नहीं लागू किया गया। इनके केवल उन्हीं नेताओं/सदस्यों को निशाना बनाया गया जो सीधे सोवियत सत्ता को उखाड़ फेंकने की कार्रवाई में लिप्त थे। इनके सारे ही बड़े नेता तात्कालिक गिरफ्तारियों को छोड़कर किसी दमन का शिकार नहीं हुए। गृह-युद्ध में सोवियत सत्ता की सफलता के साथ वे स्वयं ही एक-एक कर देश छोड़ कर चले गये और विदेशों में सोवियत सत्ता के खिलाफ अपना षड्यंत्र जारी रखा।

गृह-युद्ध के दौरान लाल आतंक आम तौर पर बुर्जुआ वर्ग और पुरानी जारशाही शक्तियों के खिलाफ लागू किया गया। इसे क्रांतिकारी प्राधिकरणों के जरिये किया गया। इस लाल आतंक ने प्रतिक्रांतिकारियों को कुचलने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

गृह-युद्ध और विदेशी हस्तक्षेप का काल सोवियत सत्ता के लिए बहुत कठिन काल था। पर भारी कुर्बानियां देकर अंततः क्रांति विजयी हुई। 1921 की शुरूआत होते-होते सोवियत सत्ता जम चुकी थी। अब साम्राज्यवादी शत्रु भी इसे स्वीकार कर चुके थे।

इस गृह-युद्ध में मारे जाने वाले लोगों की संख्या के अलग-अलग आकलन हैं पर यह पांच से दस लाख के बीच बैठती है। इसमें बाकी गृह-युद्धों की तरह वे भी शामिल हैं जो सीधे लड़ाई में नहीं बल्कि उसके कारण मरे। फ्रांसीसी क्रांति के दौरान गृह-युद्ध और विदेशी हस्तक्षेप के खिलाफ युद्ध से तुलना करें तो यह काफी कम है।

रूस में भी गृह-युद्ध की विभीषिका से आबादी के कुछ हिस्सों में असंतोष पैदा हुआ और प्रतिक्रांतिकारियों ने इसका इस्तेमाल करने की कोशिश की। वोल्गा इलाके में किसानों के दो ऐसे प्रतिरोध पैदा हुए। इनमें से मखानों के नेतृत्व वाले विद्रोह ने खासी ताकत हासिल कर ली थी। हालांकि प्रतिक्रांतिकारियों के खिलाफ मखानो ने कभी-कभी सोवियत सत्ता का साथ दिया पर वह सोवियत सत्ता के खिलाफ था। गृह-युद्ध की समाप्ति पर सोवियत सत्ता ने इस प्रतिरोध को भी कुचल दिया।

क्रांति और गृह-युद्ध की कठिनाईयों से उपजे असंतोष की एक और घटना प्रसिद्ध क्रोन्साद्त विद्रोह है। फिनलैण्ड की खाड़ी में मौजूद इस फौजी बेड़े ने अक्टूबर क्रांति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। पर तब से 1921 की शुरूआत तक इसके नाविकों की संरचना बदल चुकी थी। पुराने क्रांतिकारी नाविक गृह-युद्ध के विभिन्न मोर्चे पर खेत रहे थे। अब जो नौसैनिक उस बेड़े में थे वे नये-नये किसानों से भर्ती हुए थे। गृह-युद्ध के दौरान सोवियत सत्ता को मजबूरी में किसानों से जबरन अतिरिक्त अनाज वसूली का जो काम करना पड़ा था उसका असर इन नौसेनिकों पर भी था। जैसे देहातों में किसान गृह-युद्ध के दौरान सोवियत सत्ता का समर्थन करते

रहे पर उसकी समाप्ति के बाद अपना असंतोष जाहिर करने लगे, उसी तरह अब क्रोन्साद्त के नौसैनिकों ने भी अपना असंतोष प्रकट करना शुरू कर दिया। उनके इस असंतोष का समाजवादी क्रांतिकारियों और मेंशेविकों ने फायदा उठाया तथा उन्हें विद्रोह के लिए उकसा दिया। अभी-अभी गृह-युद्ध से निकली सोवियत सत्ता इस तरह का विद्रोह फैलने नहीं दे सकती थी। विद्रोह का दमन किया गया जिसमें सोवियत सत्ता के पक्ष की ओर से तिगुने से ज्यादा लोग मारे गये क्योंकि वे किलेबंद विद्रोहियों के सामने खुले मैदान में थे। मारे जाने वालों में उस समय चल रही रूसी कम्युनिस्ट पार्टी (बोल्शेविक) की दसवीं कांग्रेस के कई प्रतिनिधि भी थे जिन्होंने स्वयं को इस लड़ाई के लिए प्रस्तुत किया था।

अक्सर ही रूसी क्रांति के बुर्जुआ शत्रु गृह-युद्ध की समाप्ति के ठीक बाद पड़े अकाल में मरने वाले लोगों को भी सोवियत सत्ता के जिम्मे मढ़ देते हैं जबकि वह इसके लिए कहीं से जिम्मेदार नहीं थी। उसने इस अकाल से निपटने के लिए हर संभव प्रयास किये जिसमें चर्च की मूल्यवान धातुओं वाली वस्तुओं को जब्त कर बेचना भी शामिल था। अकाल के लिए जिम्मेदार साम्राज्यवादी, पुराने शासक और प्रतिक्रांतिकारी थे जिन्होंने सात सालों के अनवरत युद्ध में रूस को तबाह कर डाला था।

रूसी क्रांति में धार्मिक हिंसा फ्रांसीसी क्रांति के मुकाबले कम थी। (ज्यादातर हिंसा प्रतिक्रांतिकारियों की ओर से हुई।) इसकी वजह थी कि कम्युनिस्टों का हमेशा से मानना रहा है कि धर्म को तर्क या बल से समाप्त नहीं किया जा सकता। इसे समाज से शोषण, अन्याय-अत्याचार समाप्त कर ही समाप्त किया जा सकता है।

क्रांति से पहले जारशाही पूर्वी आर्थोडाक्स चर्च से गुंथी हुई थी। हालांकि फरवरी क्रांति में जारशाही के खात्मे के बाद इस आर्थोडाक्स चर्च को काफी धक्का लगा था तब भी इसकी ताकत समाप्त नहीं हुई थी। अक्टूबर क्रांति के बाद धर्म को व्यक्तिगत मामला घोषित कर और हर व्याक्ति को अंत:करण की स्वतंत्रता प्रदान कर इस चर्च की कमर तोड़ दी गई। साथ ही चर्च की हर तरह की सम्पत्ति जब्त कर ली गई।

परन्तु बोल्शेविक सत्ता ने इस चर्च के कारकूनों पर कोई आम बल प्रयोग नहीं किया। उन्हें तभी निशाना बनाया गया जब वे सीधे प्रतिक्रांतिकारी गतिविधियों में लिप्त पाये गये। यह इसके बावजूद था कि प्रतिक्रांतिकारी जनरलों और उनकी तथाकथित सरकारों को इस चर्च ने खुलेआम समर्थन दिया।

इस चर्च के कारकुनों के खिलाफ हिंसा और दमन का एक हल्का दौर तब चला जब अकाल से निपटने के लिए यह तय किया गया कि चर्चों में मौजूद मूल्यवान धातुओं से बनी वस्तुओं को, जिनका पूजा-पाठ से सीधा सम्बन्ध न हो, जब्त कर बेच दिया जाये। इसका प्रतिरोध करने के लिए कई जगह चर्च के कारकूनों ने जनता को भड़काया। इन कारकूनों का दमन किया गया। कुछ साल बाद पूर्वी आर्थोडाक्स चर्च ने स्वयं को शक्तिहीन पाकर नियति को स्वीकार करते हुए सोवियत सत्ता को मान्यता दे दी। उसने सोवियत व्यवस्था के हिसाब से चलने का वचन दिया।

क्रांति ने पहले के धार्मिक भेदभाव और उत्पीड़न के शिकार सारे धार्मिक सम्प्रदायों को मुक्त किया था। इसमें यहूदी प्रमुख थे जिनका लम्बे समय से घोर उत्पीड़न किया जा रहा था। उन्नीसवीं सदी के अंत वाली जनगणना के हिसाब से जारशाही रूसी साम्राज्य में यहूदी आबादी पचास लाख से ज्यादा थी। जारशाही के दौरान जारशाही के सक्रिय समर्थन से 'ब्लैक हण्ड्रेड' (रूसी जनसंघ या यूनियन ऑफ रशियन पीपुल) इनके खिलाफ नरसंहार आयोजित करते रहते थे। जहां नयी सत्ता ने इन्हें पूर्ण बराबरी प्रदान की वहीं गृह-युद्ध के दौरान श्वेत-क्षेत्र में प्रतिक्रांतिकारियों ने यहूदियों का बड़े पैमाने पर कत्लेआम किया। कुल मिलाकर रूसी क्रांति और गृह-युद्ध में धर्म के नाम पर हिंसा क्रांतिकारियों की ओर से नहीं बल्कि प्रतिक्रांतिकारियों की ओर से हुई। लेकिन इस हिंसा की मात्रा कम नहीं थी।

गृह-युद्ध की समाप्ति के बाद सोवियत सत्ता हालांकि दुर्जेय हो गई पर प्रतिक्रांतिकारी तत्वों द्वारा इसके खिलाफ तोड़-फोड़ की गतिविधियां जारी रहीं जिन्हें विदेशी सरकारों और रूस से बाहर पलायन कर गये प्रतिक्रांतिकारियों का समर्थन-सहयोग हासिल रहता था। इसमें सोवियत कारकूनों और पार्टी नेताओं/कार्यकर्ताओं के खिलाफ आतंकवादी हमले से लेकर आर्थिक विध्वंस की सारी कार्रवाईयां शामिल थीं। सोवियत सत्ता की सारी चौकसी के बावजूद इन प्रतिक्रांतिकारियों के गिरोह पैदा होते रहते थे जिनके उजागर होने पर उनसे क्रांतिकारी सख्ती से निपटा जाता था। 1920 व 30 के दशक में ऐसे ढेरों मामले सामने आये।

जैसा कि पहले कहा गया है, सामाजवादी क्रांति पूंजीवादी क्रांतियों से इस मामले में भिन्न होती है कि इसमें समाज के क्रांतिकारी रूपान्तरण का कार्य सर्वहारा द्वारा सत्ता पर कब्जे से शुरू होता है और एक लम्बे समय तक जारी रहता है। ठीक इसी कारण कि यह रूपान्तरण क्रांतिकारी रूपान्तरण होता है इसमें इस बात की संभावना होती है कि यह हिंसक रूप ले ले। कम से कम हिंसा का तथ्य तो हमेशा मौजूद रहता है।

सोवियत संघ में बड़े उद्योगों और व्यापारिक संस्थानों का गृह-युद्ध के समय ही राष्ट्रीयकरण कर लिया गया था। पर छोटे उद्यम और समूची खेती निजी हाथों में बने हुए थे। खासकर करोड़ों छोटी-छोटी जोतों का सामूहिकीकरण एक टेढ़ी खीर थी।

जब 1920 के दशक के अंत में खेती के व्यापक सामूहिकीकरण और एक वर्ग के तौर पर कुलकों के खात्मे का निर्णय लिया गया तो यह स्पष्ट था कि कुलकों की ओर से इसका तीखा प्रतिरोध होगा ओर वे कुछ मध्यम किसानों को भी अपने साथ गोलबंद कर सकते हैं। हुआ भी यही। अगले करीब चार साल सोवियत संघ के देहात भीषण वर्ग-संघर्ष की रणभूमि थे। इसमें हिंसा गृह-युद्ध की तरह नहीं थी पर इसीलिए वह ज्यादा जटिल भी थी। कुलकों के प्रतिरोध को तोड़ने के लिए उनकी एक संख्या को नये क्षेत्रों में भेजना पड़ा। तोड़-फोड़, षड्यंत्र और हिंसा में शामिल कुलकों को मृत्युदंड भी दिया गया।

सामूहिकीकरण के दौरान की यह हिंसा अनिवार्य थी। यह उम्मीद नहीं की जा सकती थी कि देहातों के शोषक चुपचाप अपनी नियति स्वीकार कर लेते और अपनी सम्पत्ति समर्पित कर देते। पर दुनिया भर का बुर्जुआ सोवियत समाजवाद को बदनाम करने के लिए इस दौरान हुई मौतों को पचासों-सैकड़ों गुना बढ़ा कर पेश करता है। वह कुछ और कर भी नही सकता।

सोवियत संघ के मामले में सबसे ज्यादा विवादास्पद है 1936-38 के दौरान सफाये अभियान में मारे गये लोगों का मामला। स्तालिन और उनके नेतृत्व पर कालिख पोतने के लिए सबसे ज्यादा इसी को उठाया जाता है। जब ख्रुश्चोव ने 1956 में स्तालिन पर हमला बोला तो उसने भी इसका खूब इस्तेमाल किया।

बुर्जुआ वर्ग के लिए 1936-38 का सफाया अभियान आज भी रहस्यमय चीज है। आज भी इस रहस्य पर से पर्दा उठाने के लिए किताबों पर किताबें लिखी जा रही हैं। पर रहस्य है कि सुलझता नहीं।

इसकी सीधी वजह यह है कि बुर्जुआ वर्ग इस सफाये अभियान के मामले में सामान्य सी सच्चाई को स्वीकार नहीं करना चाहता-वह सच्चाई जो खुली अदालत में सारी दुनिया के सामने उजागर हुई थी। मजे की बात यह है कि उस समय सोवियत संघ में मौजूद दुनिया भर के पत्रकारों और राजनयिकों के लिए तब वह सच्चाई स्पष्ट थी। जैसा कि तत्कालीन अमरीकी राजदूत ने अपनी सरकार को भेजे गोपनीय डिस्पैचों में कहा था, उस समय मास्को में मौजूद ज्यादातर विदेशी राजनयिक यह मानते थे कि सोवियत सरकार का पक्ष सही है। पर विदेशों में मौजूद रूसी प्रतिक्रांतिकारी, साम्राज्यवादी बुर्जुआ और दुनियाभर के सुधारवादी-संशोधनवादी सोवियत विरोध में इस कदर लीन थे कि वे इस सच्चाई को स्थापित नहीं होने दे सकते थे। तब से यह जारी है।

जैसा कि इस लेख के परिशिष्ट में दिये गये सिडनी और ब्रिट्रिस वेब की किताब के एक अंश से स्पष्ट है, 1936-38 की तरह की घटना का न होना अस्वाभाविक होता। यह न तो स्तालिन के सिरफिरे दिमाग का नतीजा था और न ही उनके सत्ता खोने के भय का। सोवियत संघ में स्तालिन की लाइन 1929 तक पूरी तरह से स्थापित हो चुकी थी और उसी के साथ उनका नेतृत्व भी। स्तालिन और उनके नेतृत्व को उन नेताओं से कोई खतरा नहीं था जो काफी पहले पार्टी द्वारा नकार दिये गये थे या जिनकी लाइन पिट चुकी थी। इसीलिए इन वजहों से उनका सफाया निरर्थक कार्रवाई होती। उन्हें अनावश्यक ही शहीद बनाना होता।

असल बात यह थी कि पराजित नेता अपनी सोच पर दृढ़ता से कायम थे। वे फिर से जमीन हासिल करने के लिए हर मौके का इस्तेमाल करते थे। यह तब चरम पर पहुंच गया जब द्वितीय विश्व युद्ध आसन्न हो गया और खासकर जर्मन व जापानी साम्राज्यवादी सोवियत संघ को कमजोर करने के लिए भीतर एजेन्ट तलाशने लगे। इन पराजित नेताओं के रूप में उन्हें एजेन्ट मिल भी गये। यह सब उतना अजीब या अभूतपूर्व नहीं था। द्वितीय विश्व युद्ध की गति ने दिखाया कि हिटलर ने फ्रांस सहित लगभग सारे ही यूरोप में अपना जाल बिछा रखा था।

कोई भी सत्ता अपने देश के भीतर विदेशी एजेण्टों को बर्दाश्त नहीं कर सकती भले ही इन एजेण्टों की मंशा कुछ भी हो। विदेशियों के साथ मिलकर षड्यंत्र करने की सजा केवल मौत ही हो सकती है। और 1936-38 में सोवियत संघ में भूतपूर्व क्रांतिकारियों को यही सजा मिली।

इस मामले में सोवियत सत्ता पर यही आरोप लगाया जा सकता है कि उसने दमन का दायरा बढ़ा दिया और बहुत सारे बेकसूर भी इसके लपेटे में आ गये। पर किसी भी बड़े पैमाने के वर्ग संघर्ष में ऐसा होता है और 1936-38 में जो कुछ हुआ वह वर्ग संघर्ष का ही एक रूप था जब प्रतिक्रियावादी साम्राज्यवादियों ने सोवियत समाजवाद को समाप्त करने के लिए देश के भीतर के क्रांति विरोधियों से सांठ-गांठ की। यह याद रखना होगा कि 1930 के दशक में त्रात्स्की ने विदेशों से बार-बार यह आह्वान किया था कि स्तालिन के नेतृत्व वाली सोवियत सत्ता को उखाड़ फेंका जाये और इसके लिए स्तालिन की हत्या कर दी जाये। यदि कोई सत्ता अपने को उखाड़ फेंकने का आह्वान करने वालों का दमन करती है तो इसमें कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है और क्रांतिकारी सत्ता का तो कर्तव्य है कि वह ऐसा करे। यह बात एक बार फिर रेखांकित करनी होगी बुर्जुआ समाजों से अलग समाजवादी समाजों में सत्ता हमेशा क्रांतिकारी होती है-सर्वहारा वर्ग की क्रांतिकारी तानाशाही। जिस दिन सत्ता के क्रांतिकारी बने रहने की जरूरत नहीं रह जाती उस दिन स्वयं सत्ता की भी जरूरत नहीं रह जाती। सर्वहारा की सत्ता या तो क्रांतिकारी रहेगी नहीं तो वह रहेगी ही नहीं।

1936-38 का सफाया अभियान कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। यह तो बस उस सबका चरम बिन्दु था जो सोवियत संघ में गृहयुद्ध की समाप्ति के समय से ही चल रहा था। गृहयुद्ध में हस्तक्षेप के द्वारा सोवियत सत्ता को उखाड़ फेंकने में नाकामयाब रहने के बाद साम्राज्यवादियों ने अपने एजेन्टों के जरिये तोड़-फोड़ का रास्ता अपनाया। देश के बाहर पलायन कर गये प्रतिक्रांतिकारियों ने देश के भीतर पराजित या असंतुष्ट तत्वों में इन्हें इसके लिए काफी लोग मिल गये। देश के बाहर से सोवियत सत्ता के खिलफ षड्यंत्र करने वाले प्रतिक्रांतिकारियों को साम्राज्यवादियों ने खूब पाला-पोसा और उन्होंने यूरोप में फासीवाद के उदय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। आपस में मार-काट में रत साम्राज्यवादियों में इस मामले में अद्भुत एकता थी।

जर्मनी में हिटलर के नाजीवाद के हावी हो जाने के बाद अन्य साम्राज्यवादियों ने उसका मुकाबला करने के बदले यह रणनीति अपनायी कि हिटलर को सोवियत संघ पर हमले के लिए उकसाया जाये। एक बार सोवियत संघ के पराजित हो जाने और सोवियत समाजवाद के खत्म हो जाने के बाद नाजी जर्मनी से निपटा जा सकता था। स्वाभाविक था कि इस उकसावे में हिटलर की हर तरह से मदद की जाती जिसमें सोवियत संघ के भीतर एजेण्टों को तैयार करना भी शामिल था।

नाजी जर्मनी (साथ में जापानी साम्राज्यवादियों) ने 1930 के दशक के मध्य में सोवियत संघ के भीतर सारे पुराने विरोधियों और असंतुष्ट तत्वों से संपर्क साधा और उन्हें अपनी सोवियत विरोधी परियोजना में शामिल किया। स्तालिन के नेतृत्व वाली सोवियत सत्ता को

किसी भी तरह उखाड़ फेंकने को उद्यत ये सारे तत्व इस परियोजना में शामिल हो गये। उन्हें उम्मीद थी कि यह हो जाने पर जर्मन-जापानी साम्राज्यवादियों के साथ वे निपट लेंगे या कोई ताल-मेल बैठा लेंगे। इस तरह वे सचेत तौर पर इन साम्राज्यवादियों के एजेण्ट बन गये और सोवियत सत्ता को ध्वस्त करने में लग गये। इनका नेटवर्क बहुत व्यापक था और सत्ता के ऊपरी हलकों तक फैला हुआ था।

लेकिन सोवियत सत्ता समय रहते इनके षड्यंत्र का पता लगाने और उसे नष्ट करने में कामयाब हो गई। इस वजह से हिटलर सोवियत संघ में पांचवे कालम से वंचित हो गया। आंतरिक गद्दारों का सफाया करके सोवियत संघ और मजबूत हो गया तथा इस बात के लिए तैयार हो गया कि समय आने पर नाजी हमले का दृढ़ता से मुकाबला कर सके।

इस तरह 1936-38 के साल 'पागलपन' के साल नहीं थे बल्कि वे साल थे जिनमें वर्ग-संघर्ष ने बहुत जटिल व खतरनाक रूप धारण कर लिया था। इस संघर्ष से सोवियत सत्ता और मजबूत होकर बाहर निकली। मजदूर वर्ग और सामूहिक किसान और ज्यादा दृढ़ता के साथ अपनी सत्ता के पीछे लामबंद हो गये।

क्रांतिकारी रूस और सोवियत संघ का यह उदाहरण समाजवादी क्रांतियों में हिंसा की भूमिका को स्पष्ट करता है। यह बुर्जुआ क्रांतियों से इस मायने में इसकी समानता और भिन्नता को भी स्पष्ट करता है।

लगे हाथों समाजवादी समाजों में हिंसा के एक और पहलू पर बात कर लेना फायदेमंद होगा।

IV

सांस्कृतिक क्रांतियों में हिंसा

जैसा कि पहले कहा गया है, समाजवादी समाज एक संक्रमणकालीन समाज है-पूंजीवाद और कम्युनिज्म के बीच की अवस्था। इस अवस्था की विशेषता यह है कि यह लगातार क्रांतिकारी परिवर्तन से गुजरता है। केवल इस सतत क्रांतिकारी रूपान्तरण के जरिये ही निजी सम्पत्ति के सभी रूपों का खात्मा करते हुए कम्युनिज्म तक पहुंचा जा सकता है। अपने राजनीतिक स्वरूप में यह सर्वहारा की तानाशाही का काल होता है।

सर्वहारा द्वारा सत्ता पर कब्जे के बाद पूंजीवादी समाज के क्रांतिकारी रूपान्तरण का शुरूआती काल पूंजीवादी निजी सम्पत्ति के खात्मे और समाजवादी सामूहिक सम्पत्ति (राज्य की सम्पत्ति) की स्थापना का काल होता है। जैसा कि पहले बताया गया है, यह खासा रक्त-पात पूर्ण काल है। पर इस काल की समाप्ति के बाद न तो समाज के क्रांतिकारी रूपान्तरण का काम खत्म हो जाता है और न ही इस रूपान्तरण में हिंसा समाप्त हो जाती है।

जब तक समाजवादी समाज के क्रांतिकारी रूपान्तरण का कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं था तब तक यही माना जाता था कि एक बार पूंजीवादी निजी सम्पत्ति का खात्मा हो जाने (राजकीयकरण) के बाद जो काम बचता है वह है समाजवादी शिक्षा-दीक्षा का काम-शिक्षा-दीक्षा के जरिये लोगों को नयी कम्युनिस्ट संस्कृति में ढालने का काम। इस बीच सर्वहारा तानाशाही का यही मतलब होगा कि पुराने पूंजीवादी तत्वों को बलपूर्वक सिर उठाने से रोका जाये। उत्पादक शक्तियों के सतत विकास के जरिये कम्युनिज्म की भौतिक परिस्थितियां तैयार होंगी तथा समाजवादी शिक्षा-दीक्षा के जरिये इसकी आत्मिक व नैतिक स्थितियां। इन दोनों के विकास के साथ समाजवादी समाज एक दिन कम्युनिज्म में प्रवेश कर जायेगा। बस इस बीच समाजवाद के बाहरी शत्रु भीतरी शत्रुओं के साथ मिलकर इसे तबाह न कर दें।

स्तालिन के समय तक समाजवादी समाज के विकास की यही धारणा थी। यह धारणा वास्तविकता से बेमेल थी और इस गलत धारणा की कीमत सोवियत संघ में पूंजीवादी पुनर्स्थापना से चुकानी पड़ी।

माओ ने, जो स्वयं चीन में इस समस्या से जूझ रहे थे, सोवियत संघ के समूचे अनुभव का गहन विश्लेषण किया। इस विश्लेषण और अपने देश में इसी समस्या से जूझते हुए वे अंततः महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति की अवधारणा तक पहुंचे और उसके बाद अगले दस सालों तक वे इसके जरिये चीनी समाजवादी समाज के क्रांतिकारी रूपान्तरण में लगे रहे।

सभी नयी क्रांतिकारी अवधारणाओं की तरह अपनी पैदाइश के समय सांस्कृतिक क्रांति की अवधारणा इतनी नवीन थी कि पुराने ख्याल के लोगों को इसे स्वीकार करना मुश्किल साबित हुआ। इतना ही नहीं चूंकि यह संशोधनवादियों और बुर्जुआ की जड़ खोदती थी, इसीलिए उनकी ओर से इसका जबर्दस्त विरोध हुआ। आज भी दुनिया भर के संशोधनवादी और बुर्जुआ चीन की महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति को पानी पी-पीकर कोसते हैं ओर इसे चीन के लिए महान विपदा का काल घोषित करते हैं। चीन में माओ की मृत्यु के बाद से ही डेंगपंथी संशोधनवादियों द्वारा इसकी हर तरह से निंदा-भर्त्सना की जाती रही है।

समाजवादी समाज में सांस्कृतिक क्रांति की अवधारणा का मूल तत्व यही है कि पूंजीवादी निजी सम्पत्ति के खात्मे के बाद भी समाजवादी समाज के क्रांतिकारी रूपान्तरण का कार्य जारी रहता है जिससे कि निजी सम्पत्ति को उसके सारे रूपों में समाप्त किया जा सके। समाजवादी समाज में भौतिक और सांस्कृतिक तौर पर यह भांति-भांति के रूपों में मौजूद रहती है। माल-मुद्रा का चलन; वेतन में असमानता तद्जन्य उपभोग में असमानता; शहर-देहात, उद्योग-कृषि व शारीरिक श्रम-मानसिक श्रम के बीच विरोध; तेरे-मेरे की भावना; निजी सम्पत्ति से संबंधित पुरानी मूल्य-मान्यताएं इत्यादि इसके कुछ रूप हैं।

समाजवादी समाज में जब इनके खात्मे तथा समाज के क्रांतिकारी रूपान्तरण के लिए संघर्ष चलता है तो पाया जाता है कि यह संघर्ष केवल वैचारिक नहीं रह जाता। यह एक ज्यादा जटिल वर्ग-संघर्ष होता है जो जल्दी ही हिंसक रूप धारण कर लेता है। सभी सामाजिक क्रांतियों की तरह सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति कभी उग्र रूप में तो कभी थोड़ा हलके रूप में लगातार जारी रहती है और इसी के अनुरूप इसमें हिंसा भी भड़कती और बैठती है।

कोई भी क्रांति बिना प्रतिक्रांति के संभव नहीं है। सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति पर भी यही बात लागू होती है। इसमें भी क्रांति समाजवादी समाज के और ज्यादा क्रांतिकारी रूपान्तरण का विरोध करने वालों और समाज को पीछे पूंजीवाद की ओर ले जाने वालों के प्रतिरोध से ही आगे बढ़ती है। अपनी बारी में यदि प्रतिक्रांतिकारी सफल हो जाते हैं तो वे पूंजीवाद की पुनर्स्थापना में भारी खून-खराबा करने से जरा भी गुरेज नहीं करते। स्तालिन द्वारा हिंसा की निंदा करने वाले ख्रुश्चोव ने तथा सांस्कृतिक क्रांति के दौर में माओ द्वारा हिंसा की भर्त्सना करने वाले डेंग स्याओ पिंग ने क्रमशः सोवियत संघ और चीन में पूंजीवादी पुनर्स्थापना करने के लिए भारी हिंसा करने में कोई भी कोर-कसर नहीं छोड़ी। बुर्जुआ वर्ग भी इनके द्वारा की गई हिंसा की कभी चर्चा नहीं करता। हमेशा की तरह इस मामले में भी बुर्जुआ वर्ग प्रतिक्रांति द्वारा की गई हिंसा पर चुप्पी साध जाता है।

V

अंत में

क्रांतियों के हिंसा के प्रति कम्युनिस्टों का हमेशा से एक निश्चित रुख रहा है। कम्युनिस्ट घोषणापत्र के समय ही कम्युनिस्टों द्वारा यह घोषित किया गया कि वे चाहते तो यही हैं कि समाज का शांतिपूर्ण तरीके से रूपान्तरण हो जाये पर वे जानते हैं कि ऐसा नहीं होगा। और इसीलिए वे दूसरी संभावना के लिए स्वयं को तैयार रखते हैं।

सुदूर अतीत में, जब अभी पूंजीवाद साम्राज्यवाद के दौर में नहीं पहुंचा था, मार्क्स-एंगेल्स ने सोचा था कि शायद ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका में शांतिपूर्ण क्रांति हो जाये। उनके ऐसा सोचने का कारण यह था कि इन दोनों ही देशों में 1870 के दशक तक नौकरशाही और सेना बहुत कमजोर थे। ऐसी अवस्था में पूंजीपति वर्ग शायद शांतिपूर्ण ढंग से समर्पण कर सकता था और उसे खरीदकर समाजवाद की ओर बढ़ा जा सकता था। पर जल्दी ही इन दोनों देशों में भी नौकरशाही और सेना हावी हो गये और यह संभावना खत्म हो गई। अब हर जगह केवल हिंसक क्रांति ही संभव थी।

इसीलिए जब गद्दार ख्रुश्चोव ने 1956 में शांतिपूर्ण संक्रमण का नारा दिया तो असल में यह क्रांति से गद्दारी का नारा था। स्वयं सोवियत संघ में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना करने वाले ख्रुश्चोव से इससे भिन्न व्यवहार की उम्मीद नहीं की जा सकती थी। तब से लेकर आज तक शांति पूर्ण संक्रमण की कोई भी बात दरअसल क्रांति से गद्दारी की बात है। इस तरह की बातें हमेशा क्रांति के गद्दारों द्वारा की जाती रही हैं जो पूंजीवाद को बचाकर रखना चाहते हैं क्योंकि बिना क्रांति के समाजवादी रूपान्तरण संभव नहीं।

ठीक इसी कारण शांति की इतनी ज्यादा बातें आपादमस्तक हथियारों से लैस बुर्जुआ वर्ग द्वारा की जाती हैं, चाहे वह साम्राज्यवादी बुर्जुआ हो या पिछड़े देशों का बुर्जुआ। बुर्जुआ वर्ग स्वयं ज्यादा से ज्यादा हथियारों से लैस होता जा रहा है जबकि वह मजदूर वर्ग को शांति का पाठ पढ़ा रहा है। यह मजदूर वर्ग को वैचारिक तौर पर निःशस्त्र करने का तरीका है। यह एक विचारधारात्मक वर्ग-संघर्ष है जिसे बुर्जुआ वर्ग अपने हर वैचारिक संसाधन से चला रहा है।

बुर्जुआ शांतिवादियों से भिन्न, जो जाने-अनजाने बुर्जुआ वर्ग की सेवा करते हैं, बुर्जुआ वर्ग द्वारा हिंसा के खिलाफ शांति की सारी बातें शुद्ध छलावा हैं। वे विशुद्ध धोखाधड़ी हैं। बुर्जुआ वर्ग स्वयं उन बातों में विश्वास जरा भी नहीं करता। अन्यथा तो वह एक के बाद एक जन-संहारक हथियार नहीं विकसित और जमा कर रहा होता।

मजदूर वर्ग के पास विश्व-इतिहास का, खासकर क्रांतियों का समग्र सार संकलन मौजूद है। इसके जरिये वह आसानी से देख सकता है कि बिना क्रांतिकारी हिंसा और क्रांतिकारी आतंक के कोई भी क्रांतिकारी रूपान्तरण संभव नहीं है, विश्व इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात करने वाली समाजवादी क्रांति तो बिलकुल भी नहीं। इसीलिए वह बुर्जुआ वर्ग द्वारा क्रांतियों में हिंसा और आतंक के बारे में उसके दुष्प्रचार के वास्तविक मंतव्य को आसानी से देख सकता है। वह आसानी से देख सकता है कि इतिहास के मंच से विदा लेता हुआ मरणासन्न पूंजीपति वर्ग अहिंसा और शांति की सारी झूठी बातें केवल अपने जीवन को कुछ और लम्बा खींच सकने की उम्मीद में ही करता है जबकि वास्तव में इस भीषण वास्तविकता से मुकाबला करने के लिए वह हर संभव हिंसा की तैयारी में लगा हुआ है।

■■■

परिशिष्ट

सोवियत संघ में 1936-38 के सफाये अभियान का एक स्पष्टीकरण

यदि हम इन सबकी, विभिन्न आरोपियों और सरकार जिसने इन्हें मुकदमे और सजा तक पहुंचाया, एक निर्लिप्त और दार्शनिक व्याख्या करने का प्रयास करें-एक परिकल्पित स्पष्टीकरण जिसका अर्थ किसी पक्ष को जायज ठहराना नहीं है- तो हमारी राय यह है कि वे किसी भी ऐसे लम्बे समय तक चलने वाले क्रांतिकारी संघर्ष का अनिवार्य परिणाम हैं जिसका अंत सत्ता पर कब्जे की सफलता में होता है। पूरी एक सदी तक एक के बाद एक आने वाली रूसी क्रांतिकारियों की पीढ़ियां, जो जार की पुलिस द्वारा शिकार की जाती रहीं व लगातार निर्वासन तथा कैद, कोड़े और मृत्यु के खतरे में जीती रहीं, एक खास व्यवहार के स्वरूप में ढल गईं जो उनके व्यक्तित्व का स्थाई हिस्सा हो गया। उनका जीवन झूठ और छद्मनाम, धोखेबाजी और चालाकी, चोरी और हत्या से भरा था। ये क्रांतिकारी षड्यंत्रकारी जिनकी कई पीढ़ियों से हम उनके निर्वासन में व्यक्तिगत तौर पर परिचित रहे हैं, सामान्य अर्थों में अपराधी नहीं थे। यदि ऐसा हुआ भी कि उन्हें अपने युद्ध में चोरी, धोखाधड़ी और हत्या करनी पड़ी तो भी उन्हें चोर, हत्यारे या धोखेबाज नहीं कहा जा सकता था। इनमें से सबसे अच्छे नायकत्व लिए हुए थे, भले ही हम यह मानें कि वे गलती पर थे; हालांकि उनमें से कुछ अपने कामरेडों से गद्दारी करने के लालच के शिकार हो गये- यहां तक कि जारशाही के जासूस और उकसावेबाज भी बन गये।

इसी तरह का व्यवहार उन लोगों की कार्रवाइयों में देखा जा सकता है जो आज सत्ता के शीर्ष पर हैं, और जिनकी आज 'क्रांति को बनाये रखने की जिम्मेदारी' है। वे अपने सहकर्मियों की निष्ठा पर कभी विश्वास नहीं कर पाते। कितने भी तर्कसंगत ढंग से किया गया विरोध पराजयवाद और आसन्न विद्रोह की तरह दीखता है। पढे-लिखे तबकों में हर क्षणिक शिकायती भुनभुनाहट चौकन्नी निगरानी को जन्म देता है जो जीवन को असहनीय बना देती है। संदेह, ईर्ष्या, आरोप-प्रत्यारोप, मुकदमों की झड़ी संवैधानिक उथल-पुथल में परिणत होने वाले लम्बे क्रांतिकारी संघर्ष के उत्तरकाल के वैसे ही अनिवार्य हिस्से हैं जैसे कि अब नये षड्यंत्र और प्रतिक्रांति के प्रयास।

इन भूमिगत क्रांतिकारी षड्यंत्रकारियों में प्रकट होने वाला व्यवहार का स्वरूप अन्य देशों के ऐसे ही संघर्ष में देखा जा सकता है। यहां तक कि इंग्लैण्ड और स्काटलैण्ड, जिनकी सत्रहवीं व अठारहवीं सदी में आबादी बहुत थोड़ी थी, जिनकी क्रांति भी उतनी आमूल-चूल नहीं थी, पीढ़ी दर-पीढ़ी ऐसे षड्यंत्रकारी पैदा करते रहे, जिनके लिए झूठ और मक्कारी के साथ गद्दारी और हत्या उसके हिस्से मात्र थे जिसे वे सही प्रयास मानते थे। स्कॉटी कुलीन, प्रोटेस्टैन्ट और कैथोलिक, ह्विग और कवनैन्ट, हैनोवरी और स्टूअर्ट, लगभग दो शताब्दियों तक एक दूसरे के खिलाफ षड्यंत्र करते रहे और हत्या करते रहे। इंग्लैण्ड में क्रॉमवेल और राजा चार्ल्स, जनरल मांक (नायक या गद्दार?), मन्मथ और उसकी सेना; जज जेफरी के क्रूर पश्चिमी असीज जो हर उस बंदी को कोड़े लगाते थे और फांसी पर लटकाते थे जिन्हें वे नापसंद करते थे; ह्विग कुलीन जिन्होंने आरेन्ज के विलियम को बुलाने का स्पष्ट गद्दारी भरा काम किया; चर्चल एवं अन्य जिन्होंने अपने राजा के साथ युद्ध के मैदान में गद्दारी की; ग्लेनको हत्याकाण्ड को रचने वाले; बोकिंगब्रोक और यहां तक कि मार्लबारों का स्टूअर्ट दावेदार के साथ गुप्त पत्राचार; अग्रेजी कैथोलिकों के साथ जेसुइटों का सदी भर का दमन-आयरलैण्ड में बहुत लम्बे समय तक चलने वाली समस्या की तो बात ही क्या करें-ये सारे उन संबंधित लोगों में एक खास तरह के 'व्यवहार के स्वरूप' को दर्शाते हैं जिनमें से कईयों को आज हम सामान्य या यहां तक कि समर्पित नागरिक मानते हैं; जिनके प्रयासों और बलिदानों ने ग्रेट ब्रिटेन में उस वर्तमान राजनीतिक जनतंत्र और विचार की स्वतंत्रता को सुनिश्चित किया जिसे आज हममें से ज्यादातर लोग रूढ़िवादिता के कानून द्वारा समर्थित दैवी अधिकार संपन्न निरंकुश राजशाही से बेहतर मानते हैं।

1789-95 की फ्रांसीसी क्रांति इसी तरह से षड्यंत्र और संघर्ष के काल की ओर बढ़ी जिसने प्रतिक्रांति की एक पूरी शृंखला को जन्म दिया। यह लगभग एक शताब्दी तक व्यक्तिगत सुरक्षा और सामाजिक बराबरी वाले जनवादी गणतंत्र की स्थिरता तक नहीं पहुंचा। इसी तरह के व्यवहार का स्वरूप बरास, सिये, बाबेफ, बोनापार्त, वैधानिकतावादियों और आर्लियापंथियों के साथ तेलरीं और नैपोलियन तृतीय के शुरूआती जीवन में देखा जा सकता है।

रूस में (जो नैतिकता और सभ्यता में 1900 में वहीं था जहां 1700 में ब्रिटेन और फ्रांस थे) क्रांतिकारी षड्यंत्रकारियों के व्यवहार के स्वरूप की परिणति किसी भी अन्य उदाहरण के मुकाबले ज्यादा आपसी कड़वाहट और शत्रुता में हुई जो ज्यादा तीखी और चहुंमुखी थी। केवल बहुत कठोर संघर्ष और लम्बी यात्रा के बाद ही 1917 में क्रांति सफल हुई, जब लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविक नेताओं के समूह ने खुद को सरकार में पाया। उन्हें आधा दर्जन विदेशी सरकारों द्वारा गैर कानूनी ढंग से समर्थित श्वेत सेनाओं को पराजित करने में और तीन साल लगे, एक ऐसे गृह-युद्ध में जिसके अंत तक देश तबाह हो चुका था और एक भयानक अकाल सामने था। सभी युद्धरत लोगों और इसका कष्ट झेलने वालों पर इसका भारी मनोवैज्ञानिक असर पड़ा। देशों के बीच युद्ध के विपरीत एक लम्बे समय तक चलने वाले किसी भी गृह-युद्ध की आम विशेषता है अतीव कड़वाहट और चिरस्थाई संदेह। कोई भी गृह-युद्ध शायद ही किसी शांति संधि से समाप्त होता है। देशों के बीच लड़ने वाली सेनाओं के सिपाही अंत में अपनी सीमाओं के पीछे चले जाते हैं और

उनके अभी तक के शत्रुओं के प्रति उनके दिल में बुरे ख्याल बने रहें, यह जरूरी नहीं। गृह-युद्ध के दोनों पक्षों के लोगों को अपने पड़ोसियों के बीच रहना होता है, यहां तक कि उनके साथ भी जिनके खिलाफ वे लड़े थे। रूसी क्रांतिकारियों के व्यवहार का स्वरूप आधा दर्जन क्रांतिकारी धाराओं के बीच निष्ठा और महात्वाकांक्षा के संघर्ष के कारण और तीखा व कड़वा हो गया, उन कारकों की तो बात ही क्या करें जो धरती की सतह के छठे हिस्से तक फैली हुई 17 करोड़ आबादी की विभिन्न राष्ट्रीयताओं, धर्मों और नस्लों के कारण थे।

अब हम उन रूसी षड्यंत्रकारियों पर वापस लौटें जिन्हें 1927-37 के दशक में प्रतिक्रांति की कोशिश की अपने स्वीकारोक्ति के कारण सजा मिली। क्या इस तरह की प्रतिक्रांति की कोशिश बिलकुल वही चीज नहीं थी जिसकी उम्मीद की जानी चाहिए थी? क्या बिना प्रतिक्रांति के प्रयास के दुनिया में कोई भी महान और सफल क्रांति हुई है? स्तालिन के समूह को, जो अब सरकार में है, अकाल का सामना करने में और दुनिया में सबसे खराब माने जाने वाले किसानों को ऊंची कुशलता और सभ्यता के स्तर पर लाने में भारी कठिनाईयों को सामना करना पड़ा।

यह अनिवार्य था कि नयी व्यवस्था स्थापित करने में पूरे दशकभर नीतियों को लेकर ईमानदार और वैध मतभेद हों। ये मतभेद क्या थे? हमें यहां उन मुद्दों को दोहराने की जरूरत नहीं है जिन पर 1924 से 27 के बीच त्रात्स्की और उसके बदलते दोस्तों ने तथा स्तालिन और उनके अनुयायियों ने दूसरा रुख अपनाया। प्रमुख बात यह थी कि दूसरे देशों में लगातार क्रांति भड़काते हुए रूसी क्रांति के लिए समर्थन हासिल किया जाये जो त्रात्स्की की राय में एकमात्र तरीका था जिससे रूस में बोल्शेविक सत्ता बनी रह सकती थी। (इसे त्रात्स्की 'क्रांति का स्थायित्व' कहता था)? या दूसरी ओर, जैसा कि स्तालिन ने 1926 से, जब दूसरे देशों में क्रांति नहीं हो सकी, जोर दिया कि क्या सोवियत सरकार को पश्चिमी देशों और संयुक्त राज्य अमेरिका में क्रांति भड़काने की परियोजना को टाल नहीं देना चाहिए- कुछ ने कहा छोड़ देना चाहिए-और अपनी सारी ऊर्जा उद्योग खड़े करने तथा स्वयं सोवियत संघ की खेती का क्रांतिकारीकरण करने में नहीं लगानी चाहिए, इस उम्मीद के साथ कि विशाल पैमाने का एक सफल समाजवादी राज्य बाकी दुनिया भर के सर्वहारा को स्वयं ही यूरोप और अमेरिका की पूंजीवादी सरकारों को एक के बाद एक रूपान्तरित करने के लिए उठायेगा? यह महत्वहीन नहीं है कि 1931-33 के सबसे कठिन दिनों में ही, जब बहुतों की निगाह में सामूहिक फार्मों का भविष्य अधर में अटका हुआ था, 1937 के मुकदमे में उजागर रादेक और अन्य द्वारा षड्यंत्र रचा गया। यह एकदम स्वाभाविक था कि जो लोग सरकार की नीति को गलत और देश के लिए तबाही लाने वाला मानते थे, इसका प्रतिरोध करने के लिए और इस पर चलने वाली सरकार को उखाड़ने के लिए भूमिगत षड्यंत्र का सहारा लेते। यदि इनमें से कुछ षड्यंत्रकारियों ने तोड़-फोड़ और हत्याओं का सहारा लिया तो यही सब तो स्तालिन एवं अन्य पूरी शुद्ध अंतरात्मा के साथ 1917 के पहले के अपने ज्यादातर जीवन में कर रहे थे। यदि यह सही है कि उन्होंने अपने षड्यंत्र में शत्रु सरकारों की सहायता मांगी तो यही तो तीन शताब्दी पहले इंग्लैण्ड और स्काटलैण्ड के देश भक्त और ऊंची सोच वाले कुलीनों ने, राजनेताओं और धर्माधीशों ने कभी डच तो कभी फ्रांसीसी सहायता मांगते हुए किया था।

षड्यंत्र और प्रतिषड्यंत्र के प्रयासों की लगातार जारी यह शृंखला कब तक चलती रहेगी? इसका केवल यही संभावित उत्तर है कि समय-समय पर होने वाला यह प्रयास तब तक चलता रहेगा जब तक व्यवहार का यह स्वरूप बना रहेगा क्योंकि यह बुनियादी तौर पर व्यवहार के उस स्वरूप से पैदा होता है जिससे षड्यंत्रकारियों का जीवन ढला है। जैसा कि अनुभव दिखाता है, यह जीवन भर का मामला है। जब तक वह पीढ़ी गुजर नहीं जाती जिसका शुरूआती जीवन जार के खिलाफ भूमिगत षड्यंत्र में बीता, सोवियत संघ प्रतिक्रांति के प्रयास से मुक्त नहीं हो सकता जैसा कि ग्रेट ब्रिटेन 1760 के बाद हुआ-1641-1745 के विद्रोहों की शताब्दी के पीढ़ियों बाद। प्रचुरता के बीच भुखमरी-जिसे हल करने में पूंजीवाद अक्षम लग रहा है-को हल करने में सोवियत कम्युनिज्म की उत्तरोत्तर सफलता के साथ, ये बीच-बीच के प्रयास और कमजोर होते जायेंगे तथा वे ऐसे संभावित षड्यंत्रों तक सीमित हो जायेंगे जो नयी पीढ़ी की सार्वजनिक सोच से अपने जन्म के समय ही समाप्त हो जायेंगे। पर उन लोगों में व्यवहार का स्वरूप बहुत धीमे-धीमे ही धूमिल होता है जिनको उसने ढाला है और केवल उन लोगों की मौत के साथ ही, जिन्होंने निकोलस और स्तोलिपिन के खिलाफ षड्यंत्र किया था, यह गायब होगा। लेनिन ने नवंबर 1922 में अपने एक अनुयायी को लिखा था: 'आने वाले लम्बे समय तक संदेह, अनिश्चय, शंका और गद्दारी बने रहेंगे'। यह एक एसी भविष्यवाणी थी जो 1937 के मास्को मुकदमे में प्रमाणों से सही साबित होती है।" **(Sydny and Beatric Webb, Soviet communism: A New Civilization, Third Edition in one Volume, Longman Green & co, London, 1947, PP-927-930,** अनुवाद हमारा)